आधुनिक हिंदी काव्य के कुछ पात्र

कल्याणमल लोढ़ा

H
811.009
L 821 A

[के]न्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

H
811.009
L 821 A

प्रसार व्याख्यानमाला—12

आधुनिक हिंदी काव्य के कुछ पात्र

कल्याणमल लोढ़ा

केंद्रीय हिंदी संस्थान • आगरा

© केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रथम संस्करण : 1988

Library IIAS, Shimla
H 811.009 L 821 A
00095181

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 95181
Date 18/3/2000

मूल्य : रु. 10·50

H
811.009
L821 A

केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा द्वारा प्रकाशित और नरेन्द्रा प्रिंटर्स, फ्रीगंज रोड, आगरा द्वारा मुद्रित।

आमुख

केंद्रीय हिंदी संस्थान की स्थापना शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा सन् 1961 में की गई। हिंदी के अखिल भारतीय स्वरूप संबंधी अध्ययन और अनुसंधान, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के व्यतिरेकी और तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण की अधुनातन प्रविधियों का विकास और प्रसार, विभिन्न वर्गों और स्तरों के अध्येताओं के लिए अधुनातन अनुप्रयुक्त भाषा वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित शिक्षण सामग्री का निर्माण, अहिंदी-भाषी प्रांतों के लिए हिंदी अध्यापकों का प्रशिक्षण एवं अहिंदी-भाषी प्रांतों की राज्य सरकारों की स्वैच्छिक संस्थाओं तथा अन्य अभिकरणों को हिंदी शिक्षा विषयक पाठचर्या एवं पाठ्य-सामग्री तैयार करने में सहायता, विदेशी अध्येताओं के लिए हिंदी के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था, विभिन्न व्यावहारिक एवं प्रयोजनपरक क्षेत्रों में उपयोग की जाने वाली मानक हिंदी की प्रयुक्तियों का विकास और तत्संबंधी अनुसंधान एवं प्रशिक्षण आदि इसके प्रमुख प्रकार्य हैं। हिंदी अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण के कार्य से प्रारंभ होकर आज यह संस्थान एक अंतर्राष्ट्रीय महत्व की संस्था के रूप में विकसित हो गया है।

संस्थान न केवल इस प्रकार का कार्य केंद्रीय रूप में स्वयं करता है वरन् हिंदी भाषा के विविध पक्षों पर कार्य करने वाली अन्य संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों आदि में कार्य करने वाले विद्वानों को भी संस्थान के कार्यों से बराबर जोड़ते रहने का काम करता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए संस्थान द्वारा प्रारंभ से ही प्रसार व्याख्यानमाला की एक योजना क्रियान्वित की जा रही है। इसके अंतर्गत हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, हिंदी तथा अन्य भारतीय साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी भाषा-शिक्षण, शिक्षा-शास्त्र एवं शिक्षण प्रविधि आदि विषयों पर प्रतिवर्ष दो-तीन प्रसार व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं। जिन्हें तदुपरान्त प्रकाशित भी किया जाता है जिससे प्रसार व्याख्यानों के लिए आमंत्रित विद्वानों के विचारों का प्रसार हो सके।

प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा ने इस प्रसार व्याख्यानमाला में कुछ ऐसे प्रसंगों और संदर्भों को उठाया है जो भारतीय साहित्यिक परंपरा में चिरन्तन और शाश्वत विषय संदर्भ रहे हैं। इनको आधुनिक हिंदी काव्य में किस प्रकार प्रतिबिम्बित किया गया है इसका प्रोफेसर लोढ़ा ने अपने प्रसार व्याख्यान में सांगोपांग अध्ययन किया

है । भारतीय साहित्यिक परंपरा में इन संदर्भों का यह अध्ययन साहित्यिक आलोचना के लिए एवं साहित्य जिज्ञासु अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी होगा ऐसा मेरा विश्वास है ।

(बाल गोविन्द मिश्र)
निदेशक

प्राक्कथन

प्रिय भाई डा० मिश्र, सहकर्मियों, बहिनों और भाइयों,

सर्वप्रथम मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं आप सबके प्रति व केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करूँ कि आपने मुझे यहाँ प्रसारमाला के लिए आमंत्रित कर कुछ कहने का सुयोग दिया। यह आपकी उदारता और स्नेह भावना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं क्षमा चाहता हूँ कि ये व्याख्यान अब दे रहा हूँ – वस्तुतः इन्हें बहुत पहले ही देने चाहिए थे–पर वह अवसर नहीं मिल पाया, दोष मेरा है।

इन व्याख्यानों के विषय मैंने जानबूझ कर निर्धारित किए हैं। आज जब हम साहित्य-बोध व उसकी सामाजिकता पर नए सिरे से सोच रहे हैं, जब जीवन के मूल्यों में प्रचुर अन्तर आ गया है, जब परिवेश परिवर्तित है–जब मानवीय चेतना नए आयाम खोज रही है, वे कौन से धरातल हैं, जिन पर हम अपना रचना संकल्प निभा रहे हैं। मेरी धारणा है कि आज की आलोचना में कुछ ऐसे अनजाने अनदेखे क्षितिज हैं, कुछ ऐसे चरित्र हैं, जिन पर हमारी दृष्टि जानी चाहिए, क्यों कि ये क्षितिज साहित्य की मूल अन्तुर्भक्त विद्या और उसकी प्रवहमानता के साथ-साथ इन चरित्रों को हमारे वर्तमान से जोड़ कर नया रूप दे रहे हैं। इतिहास क्रम कभी खंडित नहीं होता। वर्ग सां के शब्दों में काल के अखंड और सतत प्रवाह में न तो कहीं अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य। वह तो एक अबाध धारा है–जिसका नैरन्तर्य प्रत्येक युग और परिवर्तन में भी बना रहता है। यही इतिहास क्रम है। इसी कारण से हमारा साहित्यिक सन्निवेश भी परिवर्तित है। साहित्य की संस्कृति समाज के साथ अविच्छिन्न और अपरिहार्य रूप से ग्रंथित हैं–उसमें कहीं विश्लेष नहीं। रचनाकार की मानसिकता कभी और कहीं भी सामाजिक मानसिकता से पृथक या भिन्न नहीं होती। वैयक्तिक भावभूमि भी अपने मूल रूप में समाज से ही विन्यस्त है। आज साहित्य का मूल्यांकन भी जहाँ एक ओर उसके रचनात्मक धरातल पर हो रहा है वहाँ दूसरी ओर समाजशास्त्र, समाज मनोविज्ञान, मिथकीय विधान और मानवतावादी मूल्यों पर। सही यथार्थवाद दृष्टिकोण भी मानववाद और मानवतावाद से अछूता नहीं रहता। आज का हिन्दी साहित्य ही नहीं समग्र भारतीय साहित्य का यों कहिए विश्व साहित्य ही इसका प्रमाण है। कलात्मक सृजन भाव-भूमि की नयी अर्थवत्ता के साथ-साथ सौन्दर्य चेतना की नई जीवन दृष्टि प्राप्त करता है। समाज के संप्रेक्ष्य में काव्य जीवन की अंतर्यात्रा है। एक आचार्य का कथन है कि कवि कहता है पर चिन्तक पूछता है। कवि अकथित का कथन करता है और

है । भारतीय साहित्यिक परंपरा में इन संदर्भों का यह अध्ययन साहित्यिक आलोचना के लिए एवं साहित्य जिज्ञासु अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी होगा ऐसा मेरा विश्वास है ।

(बाल गोविन्द मिश्र)
निदेशक

प्राक्कथन

प्रिय भाई डा० मिश्र, सहकर्मियों, बहिनों और भाइयों,

सर्वप्रथम मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं आप सबके प्रति व केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करूँ कि आपने मुझे यहाँ प्रसारमाला के लिए आमंत्रित कर कुछ कहने का सुयोग दिया। यह आपकी उदारता और स्नेह भावना का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं क्षमा चाहता हूँ कि ये व्याख्यान अब दे रहा हूँ – वस्तुतः इन्हें बहुत पहले ही देने चाहिए थे–पर वह अवसर नहीं मिल पाया, दोष मेरा है।

इन व्याख्यानों के विषय मैंने जानबूझ कर निर्धारित किए हैं। आज जब हम साहित्य-बोध व उसकी सामाजिकता पर नए सिरे से सोच रहे हैं, जब जीवन के मूल्यों में प्रचुर अन्तर आ गया है, जब परिवेश परिवर्तित है–जब मानवीय चेतना नए आयाम खोज रही है, वे कौन से धरातल हैं, जिन पर हम अपना रचना संकल्प निभा रहे हैं। मेरी धारणा है कि आज की आलोचना में कुछ ऐसे अनजाने अनदेखे क्षितिज हैं, कुछ ऐसे चरित्र हैं, जिन पर हमारी दृष्टि जानी चाहिए, क्यों कि ये क्षितिज साहित्य की मूल अन्तुर्भक्त विद्या और उसकी प्रवहमानता के साथ-साथ इन चरित्रों को हमारे वर्तमान से जोड़ कर नया रूप दे रहे हैं। इतिहास क्रम कभी खंडित नही होता। वर्ग सां के शब्दों में काल के अखंड और सतत प्रवाह में न तो कहीं अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य। वह तो एक अबाध धारा है–जिसका नैरन्तर्य प्रत्येक युग और परिवर्तन में भी बना रहता है। यही इतिहास क्रम है। इसी कारण से हमारा साहित्यिक सन्निवेश भी परिवर्तित है। साहित्य की संस्कृति समाज के साथ अविच्छिन्न और अपरिहार्य रूप से ग्रंथित है–उसमें कहीं विश्लेष नहीं। रचनाकार की मानसिकता कभी और कहीं भी सामाजिक मानसिकता से पृथक या भिन्न नहीं होती। वैयक्तिक भावभूमि भी अपने मूल रूप में समाज से ही विन्यस्त है। आज साहित्य का मूल्यांकन भी जहाँ एक ओर उसके रचनात्मक धरातल पर हो रहा है वहाँ दूसरी ओर समाजशास्त्र, समाज मनोविज्ञान, मिथकीय विधान और मानवतावादी मूल्यों पर। सही यथार्थवाद दृष्टिकोण भी मानववाद और मानवतावाद से अछूता नहीं रहता। आज का हिन्दी साहित्य ही नहीं समग्र भारतीय साहित्य का यों कहिए विश्व साहित्य ही इसका प्रमाण है। कलात्मक सृजन भाव-भूमि की नयी अर्थवत्ता के साथ-साथ सौन्दर्य चेतना की नई जीवन दृष्टि प्राप्त करता है। समाज के संप्रेक्ष्य में काव्य जीवन की अन्तर्यात्रा है। एक आचार्य का कथन है कि कवि कहता है पर चिन्तक पूछता है। कवि अकथित का कथन करता है और

चिन्तक पृच्छापथ का यात्री है पर प्रारम्भ में पृच्छा और कथन का भेद भले ही मान्य हो, प्रौढ़ रचना प्रक्रिया में यह स्थिति अभेदमूलक हो जाती है। कवि की श्रेष्ठता कथन और चिन्तन दोनों में है—वही वाग्पथ है। वाग्पथ का यह संधान ही काव्य रचना का मूल तत्व है। हाइडेगर के अनुसार कवि प्रस्थान विन्दु और लक्ष्य को जोड़ता है—दोनों का अर्थ निर्धारण कर ही वह सार्थक वनता है। मैं मानता हूँ कि यह भी एक संतुलन की मानसिक और सामाजिक संतुलन की उपलब्धि है। इसी से काव्य मानसिक उन्मुक्तता का पोषक है। नीत्शे ने ठीक ही कहा था कि धरा पर फैलते हुए मरुस्थल से मानव की अन्तरात्मा की रक्षा कवि कर्म से ही सम्भव है। क्योंकि इसी से मानसिक तनाव भी निरस्त होता है। काव्य चाक्षुष नहीं, मानसी सृष्टि है। वह जीवन को जगत के अधिक निकट लाती है—इसी में वह लावण्य की पंखुड़ियाँ (जापानी मान्यता) बन जाता है।

इसी लक्ष्य से मैंने आधुनिक हिन्दी काव्य पर आधृत अपने विषय निर्धारित किए हैं। प्रथम व्याख्यान कर्ण पर है— 'आधुनिक हिन्दी काव्य में कर्ण' दूसरा व्याख्यान राधा पर है— 'आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा'। और तृतीय कामायनी पर है। यदि हम समग्र दृष्टि से देखें तो द्विवेदी युग से आधुनिक काल तक, हिन्दी काव्य की एक अविच्छिन्न धारा रही है—गुप्तजी और प्रसाद की भावभूमि इतिहास-बोध से ही नहीं नारी पात्रों में भी समान है। दोनों का इतिहास-बोध समान है—दोनों का चारित्रिक विधान मानवीय मूल्यों से संपोषित है। यशोधरा या विष्णुप्रिया एक प्रकार से 'श्रद्धा' हैं, तो श्रद्धा को भी अनेक आलोचक राधा का ही रूपान्तरण गिनते हैं। 'राधा' जिस नारीत्व का प्रतीक है, वह परिमाण, परिणाम और प्रमाण में समस्त हिन्दी काव्य का एक साक्ष्य बन गया है। न जाने कितने ऐसे नारी पात्रों को और रचना दृष्टि मिली है। इस प्रकार उपेक्षित कर्ण भी आज प्रिय पात्र है— वह युधिष्ठिर और अर्जुन से अधिक प्रिय है। इस प्रियता का मूल संबंध परिवर्तित समाजिक संरचना और मानवीय मूल्यवत्ता से है। हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य इसका दस्तावेज है— राधा का, कर्ण का। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है यह परिणाम है साहित्य के उस संलक्ष्य क्रम का जिसमें समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और ऐतिहासिक प्रक्रिया कालबोध के समानान्तर नवीन सूत्र स्थापित करती है। मैंने इसी दृष्टिकोण से ये निबन्ध लिखे हैं। कर्ण और राधा का विवेचन एक प्रकार से 'सर्वेक्षणात्मक' है क्योंकि मैं यह प्रतिपादित करना चाहता हूँ कि किस प्रकार प्रभूत मात्रा में इनपर रचनाएँ हुईं।

अन्य व्याख्यान विवेचनात्मक और अनुशीलनपरक हैं। मैं छायावादी काव्य के उपनिषद और आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वोत्तम उपलब्धि कामायनी को भी इसी इतिहास-बोध या यों कहिए समसामयिकता या युग की प्रासंगिकता के साथ देखना चाहता हूँ।

आज तक मैंने सदैव भाषण दिया है– उन्हें लिखित रूप में प्रस्तुत कर कभी पढ़े नहीं। आज यद्यपि लिख कर लाया हूँ पर उनका आधार ही लूंगा। विश्वास है आप इसे अन्यथा नहीं लेंगे। मैं पुनः आप सबका अभिनन्दन करता हूँ। आप सभी श्री साधक हैं। भारतीय मान्यता तो यही है—"वाग्वै पथ्या स्वस्तिः"।

—कल्याणमल लोढ़ा

विषय-सूची

1. आधुनिक हिन्दी काव्य में कर्ण 1
2. आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा 25
3. कामायनी : एक सिंहावलोकन 49

विषय-सूची

1. आधुनिक हिन्दी काव्य में कर्ण 1
2. आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा 25
3. कामायनी : एक सिंहावलोकन 49

1

आधुनिक हिन्दी काव्य में कर्ण

मैं अपना वक्तव्य रैमण्ड विलियम्स के इस कथन से प्रारम्भ करूँगा—"कला समाज के ध्रुव केन्द्र का परिवेषण करती है। बहुधा समाज कला के माध्यम से समाज होने की अपनी संवेद्य शक्ति को अभिव्यक्त करता है।"

यदि हम इस कथन के सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी काव्य पर विचार करें, तो यह निर्विवाद सिद्ध होगा कि परिवर्तित सामाजिक संरचना और नवीन ऐतिहासिक चेतना के मध्य उसने किस प्रकार हमारी परम्परा और हमारे प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथावस्तु, चरित्रों और मूल्यों को नवीन अर्थ और यथार्थ बोध दिया है। लायोनल टिलिंग ने आधुनिक रचना-चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"आधुनिक साहित्य में एक घनीभूत विद्रोह का स्वर विद्यमान है, जिसका रूप उन स्थितियों से बना है, जो हमें अतीत से प्राप्त हुई हैं।"

सामाजिक चेतना और मनोदशा के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य की रचनाधर्मिता में भी परिवर्तन हो जाता है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया को ही स्टीफेन स्पेंडर जैसे कवियों ने संवेदनशीलता का आंतरिक संकट (Inner crisis of Sensibility) कहा है। साहित्य और युग समानान्तर चलते हैं और इसी से साहित्येतिहास की प्रवृति और विधा रचनाकार को वस्तुनिष्ठ सत्य के साथ उसकी स्वनिष्ठ चेतना से भी जोड़ती है। इतिहास इन दोनों के बीच की शृंखला बनता है। रचनात्मक चेतना, सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक चेतना एक ऐसा त्रिभुज है, जिसमें साहित्य मानवीय सत्य को उद्घाटित करता हुआ अपना मूल्य निर्धारण करता है। इसी से जोन रोकवेल ने 'भाषा को राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र बिन्दु और साहित्य को सामाजिक दर्पण कहा है।' जब समाज और संस्कृति के नवीन और प्राचीन रूपों में संघर्ष होता है, तब साहित्यकार अपने को उस संघर्ष से संपृक्त और संयुक्त करता है। इसे हम अरनेस्ट फिशर के शब्दों में यों कह सकते हैं—"कलाकार अपने काल के विचारों, पूर्वाग्रहों, मूल्यबोध अर्थात् वैचारिकता से अछूता स्वाधीन रचनाकार नहीं होता। उसका समय उसे गतिमान करता है, बनाता है, विकसित करता है और वह अन्तर्निहित वास्तविकता को देखने में समर्थ होता है"

1

आधुनिक हिन्दी काव्य में कर्ण

मैं अपना वक्तव्य रैमण्ड विलियम्स के इस कथन से प्रारम्भ करूंगा—"कला समाज के ध्रुव केन्द्र का परिवेषण करती है। बहुधा समाज कला के माध्यम से समाज होने की अपनी संवेद्य शक्ति को अभिव्यक्त करता है।"

यदि हम इस कथन के सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी काव्य पर विचार करें, तो यह निर्विवाद सिद्ध होगा कि परिवर्तित सामाजिक संरचना और नवीन ऐतिहासिक चेतना के मध्य उसने किस प्रकार हमारी परम्परा और हमारे प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथावस्तु, चरित्रों और मूल्यों को नवीन अर्थ और यथार्थ बोध दिया है। लायोनल टिलिंग ने आधुनिक रचना-चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"आधुनिक साहित्य में एक घनीभूत विद्रोह का स्वर विद्यमान है, जिसका रूप उन स्थितियों से बना है, जो हमें अतीत से प्राप्त हुई हैं।"

सामाजिक चेतना और मनोदशा के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य की रचनाधर्मिता में भी परिवर्तन हो जाता है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया को ही स्टीफेन स्पेंडर जैसे कवियों ने संवेदनशीलता का आंतरिक संकट (Inner crisis of Sensibility) कहा है। साहित्य और युग समानान्तर चलते हैं और इसी से साहित्येतिहास की प्रवृति और विधा रचनाकार को वस्तुनिष्ठ सत्य के साथ उसकी स्वनिष्ठ चेतना से भी जोड़ती है। इतिहास इन दोनों के बीच की शृंखला बनता है। रचनात्मक चेतना, सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक चेतना एक ऐसा त्रिभुज है, जिसमें साहित्य मानवीय सत्य को उद्घाटित करता हुआ अपना मूल्य निर्धारण करता है। इसी से जोन रोकवेल ने 'भाषा को राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र बिन्दु और साहित्य को सामाजिक दर्पण कहा है।' जब समाज और संस्कृति के नवीन और प्राचीन रूपों में संघर्ष होता है, तब साहित्यकार अपने को उस संघर्ष से संपृक्त और संयुक्त करता है। इसे हम अरनैस्ट फिशर के शब्दों में यों कह सकते हैं—"कलाकार अपने काल के विचारों, पूर्वाग्रहों, मूल्यबोध अर्थात् वैचारिकता से अछूता स्वाधीन रचनाकार नहीं होता। उसका समय उसे गतिमान करता है, बनाता है, विकसित करता है और वह अन्तर्निहित वास्तविकता को देखने में समर्थ होता है"

(आइडियोलॉजी एण्ड आर्ट)। कवि इतिहास की घटनाओं को शुद्ध मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करता हुआ उनमें उन प्रत्ययों का समावेश करता है, जो उसके कृतित्व का एक ओर अत्म संतोष बनता है, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक और सामाजिक धरातल पर अर्थभरी सार्थकता भी। सारोकिन ने इसीलिए दो सांस्कृतिक सामाजिक स्थितियों का निर्देश दिया है प्रथम संवेगात्मक (Sensational) स्थिति और द्वितीय प्रत्ययमूलक (Idealtional)। यदि हम आधुनिक हिन्दी काव्य पर दृष्टिपात करें तो हमें उपर्युक्त विवेचन अधिक स्पष्ट हो जाएगा। छायावादी काव्य का धरातल संवेगमूलक था—व्यक्तिनिष्ठ, पर उसी धरातल के नीचे एक और धारा गत्वर और प्रवहमान थी, जिसे हम सामाजिक चेतना के आधार पर प्रत्ययमूलक धारा कह सकते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार—"कोई भी छायावादी कवि सीमित विचार-भूमि में बँधा नहीं रहा वे बराबर चिन्तनशील विकास की नई दिशाएँ खोजते रहे—उन्होंने अनेक रचनाओं में समाज की व्यापक समस्याओं की ओर संकेत किया और साहित्य को जनजीवन से सम्बद्ध। छायावादी काव्य के मूल्यवान तथ्य को आत्मसात किए बिना कोई भी आधुनिक कवि अपने आधुनिकता बोध के बल पर उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रत्ययमूलक काव्य केवल आत्माभिव्यक्ति का काव्य नहीं होता वरन् उसमें कवि की बौद्धिकता भी अभिव्यक्त होती है। ऐसा काव्य रागात्मक और बौद्धिक दोनों होता है। एल० टी० होबहाउस ने सामाजिक चेतना से सम्बद्ध करते हुए इस बौद्धिक विकास की पाँच भूमिकाएँ निर्धारित की हैं। वे हैं–समाज की क्रियाशीलता में परिवर्तन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, इसिहास की अछूती और अनदेखी रेखाओं को उजागर करना, अतीत से वर्तमान और भविष्य को अधिक श्रेयस्कर गिनना एवम् सामाजिक परिवर्तनों की चक्रीय गति का बोध। इसी विकसनशील सामाजिक चेतना के कारण साहित्यकार की रचनाशीलता और संवेदना में भी आमूल परिवर्तन हो जाता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य, रामकथा और महाभारत के कथानकों व चिरित्रों, पौराणिक व अन्य कथा-सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। बंगला साहित्य में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद वध, विरहिणी ब्रजांगना, वीरांगना काव्य से पौराणिक व ऐतिहासिक चरित्रों का नूतन वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया। आधुनिक हिन्दी-काव्य में भी कवियों की जागरूकता का प्रमाण हमें उनकी नवीन सामाजिक चेतना और उनके प्रबुद्ध इतिहास-बोध में मिलता है और यह प्रवृत्ति समूचे भारतीय साहित्य में विद्यमान है। गोमती नारायण के शब्दों में "आधुनिक भारतीय साहित्य सामाजिक समस्याओं से गंभीर सम्बन्ध रखता है। चाहे वे वर्णगत हों, या वर्गगत, चाहे वह सर्वहारा की पीड़ा हो या नारी का क्रन्दन। वस्तुतः आज का भारतीय साहित्य शोक की अवधारणा से ओतप्रोत है" (स्टेट्समैन : 15-9-85)

द्विवेदी युग से लेकर आज तक इस सर्जनात्मक परिवर्तन का प्रमाण हमें अपने यहाँ भी प्रभूत रूप में प्राप्त होता है। रामकथा की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत संत', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का 'कैकयी', भारत भूषण का 'अग्निलीक', नरेश मेहता का 'संशय की एक रात' व 'प्रवाद पर्व', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का 'उर्मिला महाकाव्य', रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', जगदीश गुप्त का 'शम्बूक 'और इन सबके साथ पंत का 'पुरुषोत्तम राम', निराला की 'राम की शक्ति पूजा', व 'तुलसीदास' इसके प्रमाण हैं। कृष्ण-कथा में भी हम यही मूल्य परिवर्तन देखते हैं। हरिऔध का 'प्रिय प्रवास', भारती की 'कनुप्रिया और अंधायुग', उदयशंकर भट्ट का 'अन्मथन', देवराज की 'आहत आत्माएँ', अज्ञेय की 'शाक्य बधू' हरिदयालु सिंह का 'रावण महाकाव्य' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'प्रेमी रावण', इसके साक्षी हैं। अन्य पौराणिक व ऐतिहासिक संदर्भों में भी कवियों को नवीन सर्जनात्मक भूमि मिली, जिसका प्रमाण दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विष-पायी', कुंवरनारायण का 'आत्मजयी', भवानी प्रसाद मिश्र का 'कालजयी', नरेन्द्र शर्मा का 'उत्तर जय', लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'क्यूरो मार्ट में अर्जुन की तलाश', देवराज का 'क्लियो पेट्रा का पत्र सीता के नाम', आनन्द कुमार के 'अंगराज', दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' व 'परशुराम की प्रतीक्षा', मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' आदि में स्पष्ट है। इन कवियों ने प्राचीन सन्दर्भों को नवीन आयाम देकर मिथकीय बाँध से संपृक्त किया है और अपनी रचनाधर्मिता को सामाजिक चेतना के साथ संपृक्त। किसी भी साहित्य की अर्थवत्ता और उसका मूल्य विधान भाव-सत्य, विचार-सत्य और पदार्थ-सत्य में निहित रहता है। आदि कवि वाल्मीकि के प्रथम श्लोक की करुण घटना इसका प्रमाण है। वाल्मीकि के अतिरिक्त दक्षिण के नाकीरन का कवि-सम्मेलन में शिव से विरोध-कवि की इसी विद्रोहात्मक क्रांतदर्शिता का प्रमाण है। आधुनिक हिन्दी-काव्य को भी हम इसी प्रत्यय प्रधान दृष्टि से 'लिटरेचर आव कन्सर्न' या 'लिटरेचर आव प्रोटेस्ट' कह सकते हैं—आप चाहें तो इसे प्रतिबद्धता कह दें या संलग्नता। जिन नारी-चरित्रों और पुरुष-पात्रों पर हमारे रचनाकारों की दृष्टि पड़ी है, परम्परा ने उन्हें उपेक्षित, संत्रस्त और तिरस्कृत ही रखा या उन पुरुषों के दुर्बल क्षणों को अनजान या अनदेखा किया, जैसे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर; कैकेयी, सीता, उर्मिला, अहिल्या, यशोधरा, शम्बूक, एकलव्य, राधा, कर्ण आदि। हिन्दी ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य में यह परिवर्तन एक विशेष महत्व रखता है।

इस परिवर्तन का एक प्रमुख कारण इन चरित्रों की त्रासद सामाजिक विसंगति और उनका करुण अवसादमय जीवन है, जिसमें उन्हें न तो पूर्ण न्याय मिला और न वह विवेक संगति ही, जो अपेक्षित थी। प्रसिद्ध स्पेनिश लेखक उलफजो सास्त्रे ने साहित्यिक त्रासदी को मनुष्य के दुःखद अस्तित्व की अभिव्यक्ति कहा है,

(आइडियोलॉजी एण्ड आर्ट)। कवि इतिहास की घटनाओं को शुद्ध मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करता हुआ उनमें उन प्रत्ययों का समावेश करता है, जो उसके कृतित्व का एक ओर आत्म संतोष बनता है, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक और सामाजिक धरातल पर अर्थभरी सार्थकता भी। सारोकिन ने इसीलिए दो सांस्कृतिक सामाजिक स्थितियों का निर्देश दिया है प्रथम संवेगात्मक (Sensational) स्थिति और द्वितीय प्रत्ययमूलक (Idealtional)। यदि हम आधुनिक हिन्दी काव्य पर दृष्टिपात करें तो हमें उपर्युक्त विवेचन अधिक स्पष्ट हो जाएगा। छायावादी काव्य का धरातल संवेगमूलक था—व्यक्तिनिष्ठ, पर उसी धरातल के नीचे एक और धारा गत्वर और प्रवहमान थी, जिसे हम सामाजिक चेतना के आधार पर प्रत्ययमूलक धारा कह सकते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार—"कोई भी छायावादी कवि सीमित विचार-भूमि में बंधा नहीं रहा वे बराबर चिन्तनशील विकास की नई दिशाएँ खोजते रहे—उन्होंने अनेक रचनाओं में समाज की व्यापक समस्याओं की ओर संकेत किया और साहित्य को जनजीवन से सम्बद्ध। छायावादी काव्य के मूल्यवान तथ्य को आत्मसात किए बिना कोई भी आधुनिक कवि अपने आधुनिकता बोध के बल पर उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।" महादेवी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रत्ययमूलक काव्य केवल आत्माभिव्यक्ति का काव्य नहीं होता वरन् उसमें कवि की बौद्धिकता भी अभिव्यक्त होती है। ऐसा काव्य रागात्मक और बौद्धिक दोनों होता है। एल० टी० होबहाउस ने सामाजिक चेतना से सम्बद्ध करते हुए इस वौद्धिक विकास की पाँच भूमिकाएँ निर्धारित की हैं। वे हैं-समाज की क्रियाशीलता में परिवर्तन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, इसिहास की अछूती और अनदेखी रेखाओं को उजागर करना, अतीत से वर्तमान और भविष्य को अधिक श्रेयस्कर गिनना एवम् सामाजिक परिवर्तनों की चक्रीय गति का बोध। इसी विकसनशील सामाजिक चेतना के कारण साहित्यकार की रचनाशीलता और संवेदना में भी आमूल परिवर्तन हो जाता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य, रामकथा और महाभारत के कथानकों व चरित्रों, पौराणिक व अन्य कथा-सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। बंगला साहित्य में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद वध, विरहिणी ब्रजांगना, वीरांगना काव्य से पौराणिक व ऐतिहासिक चरित्रों का नूतन वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया। आधुनिक हिन्दी-काव्य में भी कवियों की जागरूकता का प्रमाण हमें उनकी नवीन सामाजिक चेतना और उनके प्रबुद्ध इतिहास-बोध में मिलता है और यह प्रवृत्ति समूचे भारतीय साहित्य में विद्यमान है। गोमती नारायण के शब्दों में "आधुनिक भारतीय साहित्य सामाजिक समस्याओं से गंभीर सम्बन्ध रखता है। चाहे वे वर्णगत हों, या वर्गगत, चाहे वह सर्वहारा की पीड़ा हो या नारी का क्रन्दन। वस्तुतः आज का भारतीय साहित्य शोक की अवधारणा से ओतप्रोत है" (स्टेट्समैन : 15-9-85)

द्विवेदी युग से लेकर आज तक इस सर्जनात्मक परिवर्तन का प्रमाण हमें अपने यहाँ भी प्रभूत रूप में प्राप्त होता है। रामकथा की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत संत', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का 'कैकयी', भारत भूषण का 'अग्निलीक', नरेश मेहता का 'संशय की एक रात' व 'प्रवाद पर्व', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का 'उर्मिला महाकाव्य', रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', जगदीश गुप्त का 'शम्बूक 'और इन सबके साथ पंत का 'पुरुषोत्तम राम', निराला की 'राम की शक्ति पूजा', व 'तुलसीदास' इसके प्रमाण हैं। कृष्ण-कथा में भी हम यही मूल्य परिवर्तन देखते हैं। हरिऔध का 'प्रिय प्रवास', भारती की 'कनुप्रिया और अंधायुग', उदयशंकर भट्ट का 'अन्मथन', देवराज की 'आहृत आत्माएँ', अज्ञेय की 'शाक्य बधू' हरिदयालु सिंह का 'रावण महाकाव्य' और हरिकृष्ण प्रेमी का 'प्रेमी रावण', इसके साक्षी हैं। अन्य पौराणिक व ऐतिहासिक संदर्भों में भी कवियों को नवीन सर्जनात्मक भूमि मिली, जिसका प्रमाण दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विष-पायी', कुंवरनारायण का 'आत्मजयी', भवानी प्रसाद मिश्र का 'कालजयी', नरेन्द्र शर्मा का 'उत्तर जय', लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'क्यूरो मार्ट में अर्जुन की तलाश', देवराज का 'क्लियो पेट्रा का पत्र सीता के नाम', आनन्द कुमार के 'अंगराज', दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' व 'परशुराम की प्रतीक्षा', मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' आदि में स्पष्ट है। इन कवियों ने प्राचीन सन्दर्भों को नवीन आयाम देकर मिथकीय बाँध से संपृक्त किया है और अपनी रचनाधर्मिता को सामाजिक चेतना के साथ संपृक्त। किसी भी साहित्य की अर्थवत्ता और उसका मूल्य विधान भाव-सत्य, विचार-सत्य और पदार्थ-सत्य में निहित रहता है। आदि कवि वाल्मीकि के प्रथम श्लोक की करुण घटना इसका प्रमाण है। वाल्मीकि के अतिरिक्त दक्षिण के नाकीरन का कवि-सम्मेलन में शिव से विरोध-कवि की इसी विद्रोहात्मक क्रांतदर्शिता का प्रमाण है। आधुनिक हिन्दी-काव्य को भी हम इसी प्रत्यय प्रधान दृष्टि से 'लिटरेचर आव कन्सर्न' या 'लिटरेचर आव प्रोटेस्ट' कह सकते हैं—आप चाहें तो इसे प्रतिबद्धता कह दें या संलग्नता। जिन नारी-चरित्रों और पुरुष-पात्रों पर हमारे रचनाकारों की दृष्टि पड़ी है, परम्परा ने उन्हें उपेक्षित, संत्रस्त और तिरस्कृत ही रखा या उन पुरुषों के दुर्बल क्षणों को अनजान या अनदेखा किया, जैसे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर; कैकेयी, सीता, उर्मिला, अहिल्या, यशोधरा, शम्बूक, एकलव्य, राधा, कर्ण आदि। हिन्दी ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य में यह परिवर्तन एक विशेष महत्व रखता है।

इस परिवर्तन का एक प्रमुख कारण इन चरित्रों की त्रासद सामाजिक विसंगति और उनका करुण अवसादमय जीवन है, जिसमें उन्हें न तो पूर्ण न्याय मिला और न वह विवेक संगति ही, जो अपेक्षित थी। प्रसिद्ध स्पेनिश लेखक उनफजो सास्त्रे ने साहित्यिक त्रासदी को मनुष्य के दुःखद अस्तित्व की अभिव्यक्ति कहा है,

जिसका प्रत्यक्ष संबंध सामाजिक न्याय और सांस्थनिक रूपान्तरण से है। यह त्रासदी जीवन का द्वन्द्वात्मक पक्ष प्रस्तुत करती है। ये पात्र इतिहास और परम्परा में उचित स्थान न पाने की अपेक्षा सदैव निन्दनीय रहे हैं और उनकी नियति सदैव प्रश्न-वाचक ? पता नहीं वह कौन-सा पाप है, जिनके कारण उन्हें निरन्तर दण्ड भोगी बनना पड़ा और बिना तर्कपूर्ण हल के सदैव पराज्य और पीड़ा सहते गए। अंतोनिया ब्यूरो ने इस मानवीय त्रासदी के चार पक्ष बताए हैं–पूर्णता और अपूर्णता में संघर्ष, कार्यों की अपरिहार्य परिणति, सुख और दुःख का आवर्तन एवम् आशा और निराशा का संघात। यदि हम ऐसे ही एक त्रासद, दुःखी, उपेक्षित और निन्दित चरित्र का संधान करें, तो महाभारत का कर्ण सर्वाधिक संगत व समीचीन ठहरता है। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय साहित्य की विभिन्न विधाओं के भिन्न-भिन्न रूपों में कर्ण आख्यायित और व्याख्यायित हुआ। कर्ण की कथा शोक-कथा है। दुर्गा भागवत के शब्दों में 'दुःख को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है, समस्त दर्शन और सौन्दर्य जीने की शक्ति में है। मुक्त दुःख अभिनव प्रज्ञा देता है, बुद्धिवादियों की जड़ता संस्कृति का भीषण अभिशाप है, जबकि उनकी संवेदनशीलता सूख जाती है, तो मनुष्य पाशवी बल से जकड़ा जाता है। व्यास पर्व, यह कथन अंगराज, वृष, जीव, वैकर्तन सूर्य पुत्र व सूत-पुत्र कर्ण पर सटीक ठहरता है। उसका जीवन आकर्षण-विकर्षण, उत्कर्ष-अपकर्ष, शक्ति-दौर्बल्य, त्याग-मोह इन सबका अद्भुत मिश्रण रहा। यदि उसका असामान्य व्यक्तित्व एक ओर खण्डित और विघटित है, तो दूसरी ओर परिपक्व, दृढ़ और तेजस्वी, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कारेन होर्नी ने आत्म-बोध और आत्म-आदर्शीकरण के संघर्ष को असामान्य व्यक्तित्व का मूल लक्षण गिनते हुए व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक संघटन व पारिवारिक परिवेश को सर्वाधिक महत्व दिया है। इस महिला मनोवैज्ञानिक के शब्दों में—"सुरक्षा के लिए व्यक्ति तीन प्रकार का आचरण अपनाता है : वह कुछ व्यक्तियों की ओर आकृष्ट होता है, कुछ से विकृष्ट और कुछ से नितान्त तटस्थ।" (मैलविन एच० मार्स व विलियम ए हिलिक्स द्वारा सिस्ट्यस व थ्योरीज ऑफ साइकोलोजी में उद्धृत-वैराईटीज आव पर्सनैलिटी थ्योरी)

कर्ण के जीवन का भी यही इतिहास है। वह दुर्योधन की ओर गया और पांडवों के विपरीत, पर मन से सदा अलिप्त भी रहा। उसके व्यक्तित्व और चरित्र की विचित्रता ने महाभारत में महर्षि व्यास को भी आकृष्ट किया। वे उसे एक ओर सराहते गए और दूसरी ओर धिक्कारते। उसने जितना पाया, उससे अधिक खोया, वह जितना जीता उतना ही हारा, जितना ऊँचा उठा, उतना ही नीचे गिरा, उसकी दान-शीलता, मित्रता, संवेदनशील दृढ़ता, वचनबद्धता, वीरता, आत्ममर्यादा और उदारता ही उसके लिए अभिशाप बन गई। अपने भाई शोण से वह सदैव बँधा रहा। पिता अधिरथ और माता राधा के प्रति उसके मन में अडिग श्रद्धा रही और उसने अपने को सूत

पुत्र कहने में गौरव बोध किया । अपनी पत्नी वृषला से उसे अगाध स्नेह रहा । श्रीकृष्ण से वह सदैव मोहित, यहाँ तक कि अपना अंतिम संस्कार भी उनसे कराया । मरणोन्मुख कर्ण के कानों में श्रीकृष्ण ने ही उसे "कौन्तेय" कहा, तब उसकी सारी व्यथा अश्रु बनकर बह निकली । चरित्र और व्यक्तित्व की इन असामान्य विशेषताओं के कारण ही आज हिन्दी ही नहीं समस्त भारतीय साहित्य में भी वह अन्यतम रूप में स्वीकारा जाकर उसके त्रासद संघर्ष को नये धरातल पर देखने का प्रयास किया जा रहा है । उस पर उपन्यास लिखे गए, नाटक खेले गए, कहानियाँ बनीं और प्रबन्ध एवम् खण्ड काव्यों की तो गणना ही क्या ? बंगला-साहित्य में रवीन्द्रनाथ, वीरेन्द्र प्रतिहार और विमल कर ने 'कर्ण कुंती संवाद' की प्रमुखता दी तो अमरेश चन्द्र मुखोपाध्याय और विनयकृष्ण मुखोपाध्याय ने 'कर्णार्जुन युद्ध' को । बुद्धदेव वसु ने 'अनामी अंगना और प्रथम पार्थ' में उसके जीवन में नए गवाक्ष खोले । तमिल में कर्ण पर कई रचनाएँ हुईं । पमल मुदियार का कोडायली कर्ण, वी० एस० रमैय्या का लोकप्रिय नाटक 'तरोति-महन', डा० इराकुमार वेतम का पडिनैतम नाल (जो वहाँ माध्यमिक कक्षाओं में निर्धारित है) व कर्ण महाराजन चंदाई, महत्वपूर्ण कृतियां हैं । श्री रा० जी० पार्थी ने मध्य युग की एक लोककथा का आधुनिक संस्करण निकाला, जिसके आधार पर हिन्दी में नरेन्द्र शर्मा ने 'सुवर्णा' लिखा । गुजराती में उमाशंकर जोशी का 'कृष्ण-कर्ण संवाद' मराठी में मोरोपंत, मुक्तेश्वर, नाटककार माधवराव जोशी का कर्णार्जुन नाटक, शिवराय महादेव परांजपे का 'पहिला पांडव', विट्ठल हरि ओंधकर का, 'महारथी कर्ण, कुसुमाग्रज का 'राधेय' महत्वपूर्ण हैं । इसी प्रकार शिवासामन्त के प्रसिद्ध उपन्यास 'मृत्युंजयी' में वह 'मुठी ऊँचेरा मानवी' है, तो दाजी पणसीकर के 'महाभारत सुडाचा एक प्रवास' की चंडाल चौकड़ी में एक । अंग्रेजी में कवि पी० लाल ने मौन की महत्ता बताते हुए 'कर्ण कुंती संवाद' को नये संकल्प से अभिहित किया है । तेलुगु में उदयश्री का 'कुंती कुमारी', जी०जशिव का 'भारत विरुदु' मान्य रचनाएँ हैं । समूचे आधुनिक भारतीय साहित्य में कर्ण एक प्रिय पात्र बन गया है ।

महाभारत में श्रीकृष्ण उसे एक ओर 'वेदवादान सनातनान्', 'सत्यवादी, तपस्वी, नियतव्रता' कहते हैं—वहीं दूसरी ओर बार-बार 'दुष्टात्मा' और सारे अनर्थ की जड़ भी—'तत्र सर्वत्र दुष्टात्मा कर्णः पापमतिर्मुखा' । व्यास ने बार-बार उसे 'सत्य संगीन' और घृणितः कहा है, तो भीष्म, कृपाचार्य, द्रोण ने अहंकारी, दुरात्मा और पाखण्डी । दुर्गा भागवत के अनुसार 'कर्ण सतत एकाकी था, अपने न्यायोचित स्थान से बहिष्कृत । महाभारत के चित्र को मन-ही-मन अंकित करें तो, हमारे हाथ सिर्फ द्रौपदी, कर्ण, भीम और अर्जुन बस, इतने ही पात्र आते हैं । यदि कर्ण नहीं होता तो कौरवों के साथ न्याय कराना व्यास के लिए सम्भव नहीं होता—कर्ण न होता तो पांडवों में दृढ़ता नहीं आती । कर्ण भारतीय युद्ध में 'आश्वासन' का प्रतीक

था—उसके कारण ही श्रीकृष्ण को अर्जुन के सामने गीता के दर्शन का उद्घाटन करना पड़ा। (व्यास पर्व) इरावती कर्वे के अनुसार 'कर्ण के जीवन और अन्तःकरण को जिस विफलता ने ग्रस लिया था वह यही कि 'मैं कौन हूँ' ? इसका उत्तर प्रथम तो उसे मिला ही नहीं और मिला भी तो बेकार साबित हुआ। उसके कथन और कृति में, कथनी और करनी में विचारों की विलक्षण स्पष्टता दिखाई देती है। ये अवसर मानवीय धरातल के हैं और (कर्ण) इस परीक्षा में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हुआ है।' (युगान्त) प्रसिद्ध गुजराती लेखक हरीश दवे ने कर्ण को महाभारत का 'अद्भुत पात्र' कहा है वह सामाजिक अन्याय का प्रतीक, पराक्रमी वीरत्व का मूर्त रूप और अटूट मित्रता का पोषक है। वह मानव संबंधों में एक नया अध्याय जोड़ता है, एक कर्ण वह है जो दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन के साथ है—पर एक वह है, जहाँ कोई अहंकार, गर्व या दुर्भाव नहीं है, यही (कर्ण) आज के साहित्य का एक मात्र आकर्षण है। श्रीमती इन्दिराबाई राव कर्ण के जीवन-संघर्ष को आज की युवा पीढ़ी के लिए आदर्श गिनती है, क्योंकि उससे वे त्याग, दृढ़ता और चुनौतियों का खुलकर सामना करना सीख सकेंगे। (सूर्य पुत्र-कौन्तेय) इन मतों के परिप्रेक्ष्य में कर्ण के चरित्र की कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर हम आगे बढ़ें। महाभारत का सबसे सुन्दर गीत नवजात कर्ण को अश्व नदी में प्रवाहित करते हुए कुन्ती गाती है—

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिन।
आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्व देहचेतस।।
पातुत्वां क वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वर।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थ: पवन: सर्वगस्तथा।।
× × +
धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्रत्वां भूमौ संसर्पमाणकम्।
अव्यक्त कलवाक्यानि वदन्तरेणु गुंठितम्।। (वनपर्व अ० 308)

पर इससे क्या ? प्रारम्भ से उसका जीवन 'सूत पुत्र' होने से लांछित रहा और उसका उस जन्म आवृत्त। वर्ण व्यवस्था और वर्ण-भेद का कुफल उसे भोगना पड़ा। विदुर तो सूत पुत्र थे, पर कितना अन्तर था इन दोनों में। अन्य पांडु पुत्र कानीन न होते हुए भी पांडु से कहाँ उत्पन्न हुए थे ? वे भी तो देव-संतति ही थे, पर वे पूजनीय रहे और यह निन्दनीय। द्रोणाचार्य की शस्त्र परीक्षा में वह दुत्कारा गया। अपने स्वयंवर में द्रोपदी ने यह कहकर उसका अपमान किया-'नाहं वरयांभि सूतम्'। राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर उसके और कुंती के पैरों में साम्य देखकर भी चुप रहे। कुंती ने सदा उसे अस्वीकार किया और जब अपनाया तब भी केवल निहित स्वार्थ से। समाज की निरर्थक व्यवस्था और असंगति ने उसे सदैव दबोचा। दुर्योधन की कृपा

भी अन्यथा स्वार्थ के ही कारण थी। जीवन की यह अन्यतम त्रासदी है और इसी त्रासदी के कारण कर्ण गलता गया-टूटता गया। उत्तेजना के एकाध अवसर पर द्रोपदी चीर हरण आदि को छोड़कर वह कभी मर्यादाहीन नहीं हुआ। उसके मन में द्वेष और ईर्ष्या थी तो केवल अर्जुन से, क्योंकि वही सदा उसके आगे रोड़ा बनकर खड़ा रहा। यह द्वेष भी एक मनोवैज्ञानिक ग्रंथि और मनुष्य की सहज दुर्बलता थी।

श्रीकृष्ण दो बार पांडव-पक्ष में आने का उसे प्रलोभन देते रहे एक बार कौरव सभा से लौटते हुए और दूसरी बार भारतीय युद्ध के पूर्व भीष्म की मृत्यु पर्यन्त से उसे पांडवों के पक्ष में लड़ने के लिए। पर कर्ण की मित्रता, कृतज्ञता और दृढ़ता ने उसे दूर्योधन से नहीं हटाया, वह सारे प्रलोभनों को अस्वीकार करता है, ऐसा था उसका त्याग। वह कृष्ण से कहता है—

वधाद् बन्धाद् भयाद बापि लोभाद् जनार्दन।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धृतराष्ट्रस्य धी मतः।। (उद्योग पर्व 139-146)

कौरवों के पक्ष में कर्ण ही तन और मन से लड़ा। वह जानता था कि इस युद्ध में पांडव ही जीतेंगे। द्यूत सभा से लौटते हुए वह श्रीकृष्ण से युद्ध के यज्ञ का अद्भुत रूपक बाँधकर यह स्पष्ट कर देता है कि कौरवों का पतन अवश्यंभावी है-पुनः अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए वह कहता है—'कृष्ण, इस भूतल के विनाश में मैं, दुर्योधन या शकुनि तो निमित्त मात्र हैं क्योंकि 'विदितं मे ऋषीकेश यतो धर्म्मस्ततो जय'। और इसके साथ ही - 'दीन मानस' होकर वह कृष्ण के रथ से उतर पड़ता है। उसे विश्वास है कि और मन से भी यही चाहता है कि युधिष्ठिर की विजय हो। उसकी तेजस्विता और महानता का साक्ष्य श्रीकृष्ण से उसका यह कथन है कि वे युधिष्ठिर से उसके कुंती पुत्र होने का सत्य कदापि उद्‌घाटित न करें-अन्यथा वे युद्ध ही नहीं करेंगे।

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वोस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धयस्य धनंजय।। (उद्योग पर्व 139-146)

कर्ण अत्यंत सौन्दर्य प्रिय व्यक्ति था और उसे अपने सौन्दर्य पर गर्व रहा; यही कारण है कि इन्द्र को कवच, कुंडल का दान देने पर अपनी कुरूपता से विचलित हो इन्द्र से पुन॰ उसने अपना सौन्दर्य माँगा। कर्ण अत्यंत उदार, अनुपम उदार व्यक्ति था। वह जानता था कि इन्द्र को कवच-कुंडल देना अपनी मृत्यु बुलाना था सूर्य, ने भी उसे इसके लिए आगाह कर दिया था, फिर भी उसने द्वार पर आये हुए याचक को खाली हाथ नहीं लौटाया और अपनी मृत्यु बुलायी।

इसी प्रकार जब कुंती उसके समक्ष जाती है और सूर्य के ताप से बचने के लिए पूजारत कर्ण के उत्तरीय छाया में खड़ी होती है, तब कर्ण जान-बूझ कर 'आत्म सम्मान' के कारण अपने को राधा और अधिरथ का पुत्र कहकर उसका अभिवादन करता है। राधा और अधिरथ के प्रति अपने स्नेह को उसने कभी मिथ्य। नहीं किया अपने को 'राधेय' कहने में उसने सदैव गौरव समझा 'राधेयोऽहमाधिरथे कर्णात्वा-

भिवादये कुंती उत्तर में उसे 'कौन्तेय' कहती है, 'कौन्तेय स्तवं न राधेयो नतवाधिरथः' पिता सूर्य स्वयं इसका समर्थन करते हैं। यहीं कर्ण का सारा विक्षोभ, उसका सारा दुःख स्पष्ट हो जाता है। वैशम्पायन के अनुसार यही कर्ण की धीरता और अविचलित बुद्धि का प्रमाण हमें मिलता है। वह एक ओर कुंती को उपालम्भ देता है तो दूसरी ओर यह भी कहता है कि कौरव-पक्ष को छोड़कर समाज में पुनः अनादृत नहीं हूँगा। वह अर्जुन के अतिरिक्त सबको प्राण-भिक्षा का वचन देता है और उसे युद्ध में निभाता भी है। विदा होते समय कुंती उसे अजर-अमर होने का आशीर्वाद न देकर केवल 'अनामयं स्वस्ति' तुम्हारा कल्याण हो कहती है-और कर्ण भारी मन से इसे भी स्वीकारता है। माँ ने इस समय भी उसे कैसा आशीर्वाद दिया? कौरव-पक्ष में भीष्म कृपाचार्य, द्रोणाचार्य आदि ने सदैव उसका अपमान किया। भीष्म बराबर 'दुर्जाते सूत पुत्र', 'दुर्मते सूतपुत्रस्य' कहते रहे और उसे धर्म और अर्थ दोनों का लोप करने वाला बताया 'धर्मार्थ लोपिनः' युद्ध के पूर्व अर्धरथी बनाकर उसका अपमान किया, जिसके फलस्वरूप उनके सेनापतित्व में वह लड़ा ही नहीं, पर वही कर्ण उनकी शर शय्या के निकट जाकर रोता है। सम्पूर्ण युद्ध में कर्ण केवल दो ही बार रोया—भीष्म पितामह और अपने पुत्र वृषसेन की मृत्यु पर। भीष्म और कर्ण का यह रहस्य संवाद भी अद्भुत है। भीष्म कर्ण से उसकी प्रशंसा करते हैं—

ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम्।
न त्वयः सदृशः कश्चित पुरुषंष्वमरोपम्॥

और उसे युद्ध करने की आज्ञा देते हैं—कर्ण भी उनसे कौरवों की निश्चित पराजय स्वीकारता हुआ अपने प्रतिकूल आचरण करने के लिए क्षमा माँगकर युद्ध करने की अनुमति चाहता है। कर्ण के जीवन का यह कितना उज्ज्वल, कितना स्वच्छ और कितना विराट पक्ष है, जिनसे वह जीवन भर अपमानित हुआ जिनके व्यंग बाण उसे निरंतर सालते गए उनसे ही अंतिम समय में वह क्षमा माँगता है। अश्वत्थामा ने उसे मारना चाहा-कृपाचार्य तो उसे सदैव धिक्कारता रहा। कर्ण के हतभागी जीवन का एक और पक्ष है उसके प्रति किया गया विश्वासघात। जब उसे सहयोग और समर्थन की सबसे अधिक आवश्यकता थी, वहीं अर्जुन के साथ द्वैरथ युद्ध में उसका सारथि शल्य युधिष्ठिर को दिए गए वचनों के कारण उसका तेज भंग करता है, हतोत्साहित करता है उसे हंस और कौए का उपाख्यान सुनाता है। जब कर्ण के जीवन के मनोरथ की पूर्ति का क्षण आता है, तब वह पूर्णतः निस्संग हो जाता है, घटोत्कच ने उसकी एकघ्नी ले ली-अंतिम समय में वह परशुराम का ब्रह्मास्त्र भूल गया, विजय ब्राह्मण के अभिशाप से उसका रथ धँस गया और अर्जुन निरस्त्र कर्ण पर आक्रमण करने लगा और उसका अभिशप्त जीवन अपनी अन्तिम पराजय देखने लगा। अर्जुन से युद्ध के सयय वह धर्मयुद्ध, आत्मबल एवं विवेक की ऊँचाइयाँ छूता है। जब नाग अश्वसेन दूसरी बार उसे अपना

संधान करने के लिए कहता है, तो सम्पूर्ण महाभारत में कर्ण ही यह कह सकता था—

'न संदध्यां द्विशरं चै न नाग यद्यर्जुनानां शत मेव हन्याम ।' या श्रीराम के ही समान 'न संघन्ते द्विशरं शल्य कर्णो' ।

उसे ज्ञात था कि श्रीकृष्ण के सम्मुख जाने पर वह सदैव मोहग्रस्त हो जाता था। स्वयं श्रीकृष्ण भी सात्यकि से यही कहते हैं—अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधावरं। कर्णार्जुन युद्ध में देवताओं के भी दो वर्ग हो गए। अर्जुन और कर्ण को व्यास उदित दो सूर्य कहते हैं। जीवन पर्यन्त वह सूत पुत्र रहा और मरणोपरांत क्षत्रिय, राजपुत्र, प्रथम पार्थ। उसका पवित्र जीवन में यशोमय जीवन उसकी माता ने ही नष्ट किया। इसी से मरणावस्था में स्वयं व्यास और कृष्ण ने उसे अत्यन्त तेजस्वी और सुन्दर दिखाया। व्यास ने मुमुर्षु कर्ण का अद्भुत काव्यमय वर्णन किया है। उसकी मृत्यु के समय 'मन्दं मन्दं व्रजति सविता मन्दिरं मन्दरश्मिः रश्मिः (कर्ण पर्व 91, 69)। इस प्रकार कर्ण का जीवन मनुष्य के जीवनव्यापी आंतरिक संघर्ष का अपूर्व चित्र है : शोकमूलक भाव की असाधारण 'लय' (दुर्गाभागवत)। वह मारकर कृतार्थ होता या नहीं पर मर कर अवश्य कृतार्थ हुआ, क्योंकि उसका युद्ध 'मित्रार्थे मित्र गृद्धिनां' था। उसके पराक्रम को व्यास ने 'रुद्रोपेन्द्रेन्द्र विक्रम' कहा और ज्ञान को 'सर्वशास्त्रार्थ पारगम'। ऐसा यशस्वी पराक्रमी और दृढ़प्रतिज्ञ जीवन भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम उपलब्धि है। कर्ण ने अपने जीवन से ही इस स्वोक्ति को चरितार्थ कर दिया—

सूतो वा सूत-पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्

देवायत कुले जन्म, भदायत्तं तु पौरुषम् (वेणी संहार)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी कर्ण एक आलोक रेखा की भाँति व्याप्त हो गया। उस पर उपन्यास, नाटक व काव्य लिखे गए। सुदर्शन चोपड़ा और पं० रामनारायण चतुर्वेदी ने उपन्यास लिखकर भारतीय किशोर जीवन को ऐसी विभूतियों से परिचित कराना चाहा। मनु शर्मा ने 'कर्ण की आत्मकथा' लिखी। गोविन्ददास ने अपने 'कर्ण' नाटक में उसकी 'द्वन्द्वात्मक भावनाएँ' उभार कर उसे सबसे महान उच्च हृदय व्यक्ति और सर्वश्रेष्ठ वीर गिना। कर्ण पर हमारे आधुनिक कवियों की तो रचना-दृष्टि ही गड़ गई। किसी ने उस पर अनुषंगिक ढंग से लिखा, तो किसी ने उसे अपने प्रबन्ध काव्य का चरित नायक चुना। विभिन्न लेखकों ने उसे विभिन्न शीर्षक दिए। दिनकर ने 'रश्मिरथी' कहा, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र ने केवल 'सेनापति', विनोद रस्तोगी ने 'सूत पुत्र' कहना उचित समझा, तो जगदीश चतुर्वेदी ने 'सूर्य पुत्र'। डॉ० देवराज उसे केवल 'आहत आत्मा' ही समझते हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयभारत' में और द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में उसका उल्लेख

किया, तो आनन्द कुमार त्रिपाठी ने 'अंगराज' में कर्ण को अपना 'मानस पुत्र' बता कर युधिष्ठिर से उसे श्रेष्ठतर गिना। नरेन्द्र शर्मा ने 'द्रौपदी' काव्य में उसका सामान्य चित्रण किया, तो 'सुवर्णा' में तमिल लोककथा पर आधृत उसके प्रेम प्रसंग का। मोहनलाल अवस्थी 'मोहन' ने 'महारथी' लिखा तो केदार नाथ मिश्र 'प्रभात' ने 'कर्ण खण्ड काव्य'। भगवतीचरण वर्मा ने 'त्रिपथगा' में कर्ण के जीवन का मार्मिक वर्णन किया है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक कविताओं में कर्ण चरित के विभिन्न पक्षों को रूपायित किया है, जिनमें केशु का 'सूर्य पुत्र के तीन मर्म कथन' पठनीय हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कर्ण का जीवन और व्यक्तित्व एक प्रिय कथानक बन गया है। इन समस्त कृतिकारों ने उसके जीवन के तीन प्रमुख पक्षों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी है,—कृष्ण-कर्ण संवाद, कर्ण-कुंती संवाद और कर्णार्जुन युद्ध। इसका प्रमुख कारण है कि इन्हीं तीन संदर्भों में उसके जीवन का त्रासद पर दृढ़, करुणापूर्ण पर उज्ज्वल, वीरत्व और स्वाभिमान युक्त मर्यादा सम्पन्न व्यक्तित्व उभरता है।

अंगराज : आनन्द कुमार

हम अपने विवेचन में उन्हीं काव्यों को लेंगे, जो प्रमुख रूप से कर्ण को ही नायक बनाकर लिखे गए हैं। आनन्द कुमार त्रिपाठी का 'अंगराज' एक विशिष्ट रचना है। पच्चीस सर्गों के इस महाकाव्य का प्रमुख उद्देश्य 'भारत-नायक कर्ण का सबसे प्रभावशाली एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व उजागर करना है।' 'सहस्राक्षसमं बले' की प्रशंसा में लिखा गया यह काव्य उसकी तपस्या, गुणवत्ता और अनुपम वीरत्व की व्याख्या करता है। इस महाकाव्य में कर्ण का सम्पूर्ण जीवनवृत्त रूपायित हुआ है। प्रियप्रवास के अनुकरण पर विभिन्न छन्दों में रचित यह महाकाव्य जहाँ एक ओर कर्ण को सर्वोपरि स्थान देता है, वहाँ दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक अन्याय को भी उद्घाटित करता है। इस काव्य में कर्ण एक परम उत्कृष्ट धीरोदात्त नायक है। कुछ प्रसंग लें—कवच-कुण्डल दान करते समय का चित्र खींचते हुए, त्रिपाठी जी कहते हैं—

करने लगा विदीर्ण स्वयं जब कर्मवीर अपना वक्षस्थल।
कंपित हुआ सकल ग्रहमंडल, विचलित अचला सहित हिमाचल।
हिलने लगा अचल इन्द्रासन, कंपने लगे धीरता धारक।
सुर-नर हुए प्रकंपित-विस्मित दृश्य देख वह मर्म विदारक।

\+ \+ \+

आर्यों का वह देश धन्य है करके जहाँ तपोबल संचय।
विधि-विधान विपरीत यशस्वी मर्त्य जीव बनता मृत्युंजय।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण के सारे प्रलोभनों को, यहाँ तक कि द्रौपदी को भी अस्वीकारते हुए कर्ण कहता है—'हे कर्मयोगी आप हमको कर्मभ्रष्ट न कीजिए'। कर्ण की मृत्यु पर युधिष्ठिर उसके मृत शरीर को देखकर घबरा उठते हैं, क्योंकि 'हरि रुकिए यहीं, न कहीं कुछ कटु वाक्य हमें कह दे पुनः'। क्योंकि उसके भय से पांडव तेरह वर्षों तक सुख की नींद नहीं ले सके थे। पर पीछे कर्ण जन्म का वृत्तान्त सुनकर वे कुन्ती को श्राप देते हैं। इस काव्य की एक और विशेषता 22वें सर्ग में कर्ण की मृत्यु पर उसकी पत्नी का विलाप है, जो महाभारत के आधार पर है और जिस पर अन्य कवियों ने नहीं लिखा। इस ग्रन्थ का अन्तिम सर्ग कर्ण की नैतिक विजय का प्रतिपादन करता है—आत्म विजय का, क्योंकि वही वास्तव में विजय है और इस दृष्टि से कर्ण जीता व पांडव हारे।

रश्मिरथी : दिनकर

दिनकर ने 'रश्मिरथी' में कर्ण को 'मनुजता का नया नेता' कहा है, क्योंकि उसका चरित्र अत्यन्त पुण्यमय और प्रोज्ज्वल है। वह एक यशस्वी पात्र है। 'रश्मिरथी' के पूर्व अपनी रचना 'प्रण भंग' में भी उन्होंने कर्ण के चरित्र पर प्रकाश डाला था। 'रश्मिरथी' के सात सर्गों में कवि ने अत्यन्त ओजपूर्ण प्रांजल भाषा में कर्ण के चरित्र का मूल्यांकन किया है। 'रश्मिरथी' द्रोणाचार्य की शस्त्र-परीक्षा के आयोजन से प्रारम्भ होता है—जहाँ सूत पुत्र होने के नाते कर्ण लांछित होकर निराश लौटता है। द्वितीय सर्ग में वह परशुराम से शस्त्र-विद्या सीख कर अपने को ब्राह्मण बताने के छल के कारण अभिशाप पाता है। तृतीय सर्ग कृष्ण और कर्ण से सम्बन्धित है—चौथा सर्ग कवच और कुण्डल के दान का, पंचम सर्ग कर्ण-कुन्ती संवाद, षष्ठ सर्ग युद्ध और सप्तम सर्ग उसकी मृत्यु का है। कवि ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि—

> जय हो जग में जले जहाँ भी, नमन पुनीत अनल को
> जिस नर में भी बसे हमारा नमन तेज को, बल को।
> किसी वृन्त पर खिले विपिन में पर नमस्य है फूल
> सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि शक्ति का मूल।

दिनकर ने कर्ण को अपनी पूर्ण सहानुभूति दे उसकी व्यथा को अमिट अभिव्यक्ति दी है—इसके साथ-साथ उसकी उदारता, अटूट मित्रता, दानशीलता, वीरत्व का शीर्ष रूप और अजेय बल एवं साहस के अनुपम गुणों से विभूषित भी किया है। रश्मि ही जिसका रथ है–वह है कर्ण। दूत सभा से लौटते हुए, कृष्ण-कर्ण से कहते हैं—कुरु राज्य समर्पण करता हूँ, साम्राज्य समर्पण करता हूँ, यश, मुकुट, मान

सिंहासन ले बस एक भीख मुझको दे दो—कौरव को तज, रण रोक सखे, भू का हर भावी शोक सखे। वह कृष्ण के सारे प्रस्तावों को ठुकरा कर कहता है —

उड़ते जो झंझावातों में, पीते जो वारि प्रपातों में
सारा आकाश अयन जिनका, विषधर भुजंग भोजन जिनका।
वे ही फणिबंध छुड़ाते हैं, धरती का हृदय जुड़ाते हैं।

उसकी इस दृढ़ता को देखकर स्वयं हरि भी विस्मित होते हैं। 'वीर! शत बार धन्य, तुझसा न मित्र कोई अनन्य'—यही अनन्य मित्रता ही कर्ण का सर्वोपरि गुण है। ई. एम. फारेस्टर ने कहा था। 'देश-प्रेम और मित्रता से यदि मुझे एक को चुनना हो तो मैं मित्रता का चयन करूँगा।' (हरीन्द्र दवे द्वारा उद्धृत) इन्द्र के कवच और कुंडल माँगने पर कर्ण कहता है कि 'एक बाज का पंख तोड़कर करना अभय अपर को' यह देवता भले ही करे नर नहीं कर सकता। यहीं कर्ण के आन्तरिक आवेश, उसकी सारी करुणा और दैन्य को दिनकर ने सशक्त अभिव्यक्ति दी है—

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे।
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा।
मन में लिए उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबराएँगे।
निज चरित्र बल से समाज में पद विशिष्ट पाएँगे।

'रश्मिरथी' का यह सर्ग कर्ण के जीवन की ही नहीं, हिन्दी-काव्य की भी एक उपलब्धि है—कवि ने कर्ण के अन्तर्वाह्य को, उसकी जिजीविषा और विजीगिषा को, उसके अवसाद और आत्मबल को पूर्णरूपेण व्यक्त किया है। कुन्ती का कर्ण के समक्ष आना, भीष्म का युद्ध में कर्ण को अपमानित करना, घटोत्कच को मारने के लिए एकघ्नी का प्रयोग और इस पर कृष्ण की उन्मुक्त हँसी–कवि कहता है—

मगर यह कर्ण की जीवन कथा है, नियति का, भाग्य का इंगित वृथा है।

अंतिम सर्ग में कर्ण का उदात्त गरिमामय व्यक्तित्व और उज्ज्वल हो उठा है–रण में कुन्ती की चेतनामयी प्रतिमा उसके मन में घूमती रहती है, वह ऊँचा सद्धर्म पाने को जूझता है। चारों भाइयों को छोड़ने पर वह शल्य से कहता है— 'ये चार फूल हैं मोल, किन्हीं कातर नयनों के पानी के।' इसी सर्ग में उसका पतन होता है। कवि ने यहाँ पर रथ का रूपक बाँधकर उसके अन्तिम समय का वर्णन

किया है । 'तपस्या रोचि भूषित ला रहा हूँ । चढ़ा मैं रश्मिरथ पर आ रहा हूँ।' उसकी मृत्यु पर स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

'गया है कर्ण भू को दीन करके, मनुज कुल को बहुत बलहीन करके'

अब जगत से ज्योति का जेता उठ गया । इस प्रकार 'रश्मिरथी' कर्ण पर लिखी गई रचनाओं में मौलिकतापूर्ण रचना है, जिसे पढ़कर कर्ण का व्यक्तित्व हमारे मन पर एक ऐसी ज्योति रेखा अंकित करता है, जिसे कभी विस्मृत नहीं कर सकते ।

सुवर्णा : नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा ने 'द्रोपदी' काव्य में कर्ण के जीवन पर प्रकाश डाला है—पर उनका 'सुवर्णा' काव्य परम्परा से हटकर चरित नायक कर्ण के जीवन का अनदेखा पक्ष प्रकट करता है । तमिल की लोककथा के आधार पर रचित यह काव्य तमिल की नायिका तंगम के प्रतिरूप सुवर्णा की प्रेम कथा पर आधृत है । कवि ने सुवर्णा को आज की मनीषा का प्रतीक गिना है, 'जो वर्तमान विश्वविध्वंसक घटना घटाटोप के मध्य केवल संयोगवश ही असम्बद्ध और सम्बद्ध है' । स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारत में हमारी प्रतिबद्ध मनीषा की भी बहुत कुछ ऐसी ही हालत है । कवि ने कर्ण को 'भीषण दुर्भाग्य और सामाजिक तथा वैयक्तिक अन्याय का शिकार गिना है, जिसके आहत अहंकार ने उसकी स्थिति को और भी विषम बना दिया ।' कर्ण अभागा था और एक अनाथ अभागिन से प्रेम करता था, जिसे वह अपनी दिग्विजय के मध्य हर कर ले आया था और जिसने उसे सूत पुत्र समझकर कभी प्रेम नहीं किया । सुवर्णा कवि की कल्पना है—वह प्रकीर्णा है । कर्ण की बहुत इच्छा थी कि कोई क्षत्राणी उसकी रानी बने पर सूतपुत्र समझकर सुवर्णा ने अपना हृदय देना स्वीकार नहीं किया । मरणोपरान्त उसके राजपुत्र होने का जब भेद खुलता है, तब सुवर्णा दग्ध होकर विलाप करने लगती है । इस लघु कथानक के कल्पना प्रसूत काव्य में कर्ण के जीवन के कई कोमल सूत्र कवि ने जोड़ दिए हैं, जिनमें कर्ण के चरित्र का एक नया पहलू, निराश प्रेमी का और उसके उदात्त गौरवमय चरित्र का उद्घाटन किया है । कर्ण पर लिखे गए किसी भी काव्य में अब तक उसके जीवन का प्रेम और करुणा से रंगा यह पक्ष प्रस्तुत नहीं हुआ था । सामाजिक अन्याय और कानीन होने के कारण वह अपने प्रेम में भी असफल रहा और सुवर्णा ने उसका अगाध प्रेम ठुकरा दिया —उसे गौरव मिला भी तो मृत्यु पर । कवि के ही शब्दों में कर्ण अपनी दुर्वह निर्यति के हाथों छला गया । कवि ने कर्ण और सुवर्णा के दु:खद अंत को चरम बिन्दु तक पहुँचा दिया है । कर्ण के जीवन में रण द्वन्द्व और रति द्वन्द्व दोनों एक साथ रूपायित हुए। युद्ध-भूमि में वह विचारों में डूब कर सोचता है कि उसका जीवन व्यर्थ है, सभी

उससे अप्रसन्न हैं—सुवर्णा भी। वह चाहता है कि रात्रि के एकान्त समय में सुवर्णा उसके मस्तक को एक बार सहला दे, किन्तु उधर सुवर्णा जग कर रातें बिता रही थी। इसी समय वह बंदिनी सुवर्णा को मुक्त कर देता है—यहीं से कथा नए मोड़ लेती है। अन्त में सुवर्णा को कर्ण जन्म का भेद खुल जाता है और वह चिता में प्रवेश करती है, पर स्वर्ग में उसके पिता उसे यह कह कर पुनः भेजते हैं—

'तू भारत की विधवा कन्या है।' भविष्यवाणी होती है कि कालान्तर में—

शुद्धोधन होगा कर्ण सुवर्णा माया कालान्तर में।
होंगे भावी अमिताभ बने जो वासुदेव द्वापर में॥
भारत जन होंगे आँग्ल, मृत्य सांस्कृतिक अकाल पड़ेगा।
वैकर्तन होगा करमचन्द्र तू होगी पुतली बाई।
मोहन प्रभु मोहनदास बनेंगे करने को भरपाई॥

इसी से 'जा बेटी अपने देश चढ़ा शंकर पर भस्म चिता की'।

अन्त के इस अनावश्यक और कुछ सीमा तक हास्यास्पद अंश को छोड़ दें, तो सुवर्णा काव्य अनेक दृष्टियों से एक प्रभावी रचना है। स्वयम् भीष्म कर्ण के जीवन पर दुःख प्रकट करते हैं—

आत्म दैन्य, करुणा निजत्व पर, असहनीय यह पीड़ा है।
निर्दय दुर्दमनीय नियति की, कैसी निष्ठुर क्रीड़ा है।

कर्ण भी अपने जीवन पर दृष्टिपात करके कहता है—'व्यर्थ मेरा जीवन' कर्ण की मृत्यु पर सुवर्णा विलाप करती है—अधिरथ भी कहता है—

अज्ञात नियति का मर्म, काल का धर्म मृत्यु की लीला।
हीरा मेरा हो गया राख, मैं रहा काठ ही गीला॥

इस प्रकार कर्ण चरित माला में सुवर्णा एक अभिनव पुष्प है। इस काव्य में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सुवर्णा और कवि के अन्तर्मन की उपज है।

कर्ण : केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का कर्ण दो संस्करणों में प्रकाशित हुआ था। प्रथम संस्करण में केवल ६ सर्ग थे और द्वितीय संस्करण में सप्तक सर्ग : कर्ण की मृत्यु पर (कुंती और युधिष्ठर का प्रलाप) जोड़ा गया। प्रभात महावीर कर्ण के जीवन को महाभारत की सबसे बड़ी दुर्घटना गिनते हैं–वह छल का शिकार हुआ, उसके जीवन का यह करुण पक्ष ही सर्वाधिक प्रभावी है। 'प्रभात' द्यूत सभा में द्रोपदी को लांक्षित

कर उसका अपमान करने के प्रसंग को कर्ण के जीवन की काली रेखा कहते हैं, जिसका कुपरिणाम अंत में कृष्ण ने अधर्म बताकर उसे मृत्यु दंड के रूप में दिया। कवच कुंडल पाने पर इन्द्र कहता है—

कर्ण धन्य तुम, धन्य, तुम्हारी दानशीलता भारी।
धन्य हो गई तुम्हें प्राप्त कर भारत भूमि यह प्यारी।।

स्वयं श्रीकृष्ण भी उसकी 'प्रशंसा करते हैं-'धर्म भाव तुम भव भर में भरते हो'। कवि ने युद्ध की विभीषिका का भी प्रभावी चित्र खींचा है-क्योंकि 'वह महा क्रूर परिहास मनुज का, संस्कृति का मानवता का 'कर्ण के मन में कृपाचार्य के व्यंग की पीड़ा है-कुंती का सर्वदा मौन रहना उसे खलता है। वह कहता है —

घृणा अनादर तिरस्कार यह मेरी करुण कहानी।
देखो सुनो कृष्ण, क्या कहता, इन आँखों का पानी।।

वह जानता है कि श्रीकृष्ण जिसके सहायक हों, सर्वदा उसी की विजय है। वह पांचाली को अपमानित करने पर पश्चाताप भी करता है—

'धिक कृतज्ञता, जिसने ऐसा कुकर्म कराया।'

वह अर्जुन को अपना काल समझता है। भीष्म कर्ण के लिए कहते हैं—

दानवीर, तू धर्म वीर, तू संबल भारत का
जो न कभी बुझ सकता है वह दीप महाभारत का।

अंतिम सर्ग में कुन्ती और युधिष्ठिर का कर्ण की मृत्यु पर विलाप है।

मानव को मानव न मिल सका, धरती की यह धृतिधीर।
भूलेगा इतिहास भला, कैसी यह गहरी पीर।

कर्ण के जीवन की इस गहरी पीर को ही उभारने की चेष्टा कवि ने की है, पर वह न तो रश्मिरथी को छू पाया और न सुवर्णा की कोमल पीड़ा को ही। कर्ण के जीवन की पूर्णता उद्घाटित नहीं हो सकी और न उसके जीवन का वह अगाध दुःख और वीरत्व ही। फिर भी कुछ नयी उद्भावनाएँ लेकर 'प्रभात' का 'कर्ण' उससे हमें जोड़ता है।

सेनापति कर्ण : लक्ष्मीनारायण मिश्र

लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'सेनापति कर्ण' एक अपूर्ण रचना है। पाँच सर्गों के इस काव्य में कवि ने कई अवान्तर प्रसंग जोड़ दिए हैं, जैसे दुःशासन की मृत्यु पर उसकी पत्नी वासन्ती का विलाप। कुछ प्रसंग मौलिक हैं, पर महाभारत की

कथा के अनुकूल नहीं—जैसे द्रोपदी का स्वयं युद्ध में जाने को तत्पर होना। ग्रंथ के प्रारम्भ में सीता का प्रसंग है। कवि महाभारत युद्ध का सारा दोष पांडवों पर मढ़ता है, क्योंकि पाँच ग्राम माँगना वस्तुतः साम्राज्य ही मागना था: शिशुपाल वध के समय कवि की उक्ति है—'जानता नहीं जो कि उत्तर में तर्क के चलता चक्र है।' मिश्रजी ने कर्ण के सौन्दर्य का वर्णन भी किया है, जो अन्य काव्यों में अनुपलब्ध है। कर्ण अत्यंत सुन्दर था। कवि कहता है—

दिव्य देह से निकल रही थी सूर्य रश्मि विभा जिनकी
दीख पड़ती हो रंगी-सी हेम रंग में
श्वेत माला शोभित है कंठ भुज मूल में
उरस रही है कर्ण फूल यथा मंजरी।

कुन्ती भीष्म से कर्ण को अपना पुत्र बताती हुई कहती है—

'पार्थ से विशेष यदि सब माने आप तो।
तब तो कहूँगी प्रेम मेरा कर्ण पर है॥

पर यह केवल कथन मात्र है। इसके विपरीत कर्ण आत्मविश्वास के साथ कहता है—

इस भवभूमि में मनुज कुल वंश की चलती रही है।
बिडम्बना अब तक जो, मिट कर रहेगी।
पुण्य पर्व वह आएगा, मानव समान सुख भोगी
दुख भोग से छूटकर सहज बनेगा अधिकारी देव पद का भी।

और वह श्रद्धानत होकर कुन्ती के चरणों में झुकता है, तब कुन्ती कहती है—

आज पुत्र फल पा गई वत्स मैं तुम राधा के बने रहो।
युद्ध धर्म निर्भय हो पूरा करो, जिसमें नीति की विजय हो॥

'सेनापति कर्ण के बिषाद सर्ग में चारों ओर विषाद है। कवि की दृष्टि व्यापक कथाफलक पर है, पर अपूर्ण होने से इसमें कर्ण का चरित्र न तो उभर पाया और न उसमें वे विशेषताएँ ही आ पायीं, जिसने उसे हमारी परम्परा में एक महत्वपूर्ण आयाम दिया।

सूर्यपुत्र : विनोद रस्तोगी

1979 में प्रकाशित विनोद रस्तोगी का 'सूर्य पुत्र' दो अंकों में एक सफल काव्य नाटक है। नाटककार ने कर्ण की तेजस्विता और उसके पौरुष की महानता पर विशेष बल दिया है। मानवता के वर्ग मुक्त मूल्यों के प्रति जो आस्था है, उसकी

प्रस्तुति ओजपूर्ण शैली में की गई है । नाटक शस्त्र-परीक्षा से प्रारम्भ होता है, जिसमें कर्ण के भाग लेने पर भीष्म कहते हैं 'वसु सेन जाओ । मत विग्रह मचाओ यहाँ, शल्य और शर में अन्तर है ।' इस पर कर्ण आत्म-विश्वास के साथ कहता है कि 'नारी वह होगी अवश्य उच्च कुल की । जिसने जन्म दिया मुझे अवांछित-रूप से भंग मर्यादा कर समाज और वंश की ।' फिर लोक-लाज-अपवाद से बचने को नदी तरंगों में मुझे बहा दिया—क्रूर निर्मोही बन'—यह कथन अभिजात कुल पर एक कड़ा व्यंग्य है । यहीं कर्ण आहत स्वर से पुनः पूछता है—'क्या मैं मनुष्य नहीं ।' उसकी माँ राधा उसे रोकती है—वह दुर्योधन की दुर्नीति का विरोध करती है । कर्ण द्रौपदी के स्वयंवर से जब लांछित होकर लौटता है, तब राधा से कहता है—

माँ, तू दुखी न हो
निम्न कुल तेरा, पर हृदय तो महान है,
झूठी कुलीनता सनी है पाप पंक में,
निर्मल कलुष हीन सरल और सहृदय वही हैं लोग,
जिन्हें उच्च वर्ण वाले घृणित और त्याज्य मानते हैं;

+ + +

माँ मैं जन्म से हूं मात्र एक सारथी ।
किन्तु पुरुषार्थ से बनूंगा महारथी । ।

आगे चलकर परशुराम भी उसे यही कहते हैं कि 'खोखले मूल्य और झूठे मानदण्ड नष्ट होंगे, और फिर नये मूल्य, नए मानदण्ड, नए प्रतिमान अंकुरित होंगे । सूत पुत्र का कर्ण महाभारत के युद्ध को भी समता का युद्ध गिनता है । वह इन्द्र पर भी व्यंग करके कहता है कि ऐसे देवताओं से तो हम मनुष्य अच्छे हैं । यही नहीं वह कृष्ण को भी उपालम्भ देता है—वही कृष्ण जो जरासंध के भय से मथुरा से द्वारका में जा बसे । वह अपने को 'राधेय' कहना पसन्द करता है और मानता है कि—अर्जुन का वध, उसकी तो मृत्यु उसी दिन हुई, 'केशव ! आए जब इन्द्र मुझे छलने ।' कृष्ण भी उसके आगे, उसकी अडिग और अविचलित मित्रता पर श्रद्धानत हो जाते हैं । निडर होकर वह कुंती से कहता है—

"जन्म दिया मुझको ऐसी भीरु नारी ने ।
जिसने समाज कुल मर्यादा के आगे हार कर । ।
घुटने टेक दिए ।"

कुंती का स्वार्थ भी तभी प्रकट होता है जब वह अर्जुन के प्राणों की भिक्षा माँगती है । इस काव्य नाटक का एक और शसक्त पक्ष है-कर्णार्जुन युद्ध । अर्जुन मरणोन्मुख कर्ण से क्षमा माँगता है । कर्ण ने अपना मित्र ऋण पूरा किया—वह आत्मवंचना से बड़ा

कोई छल नहीं समझता। उसका यह अंतिम कथन विराट मानवीय अवधारणाओं के कारण उसे और भी ऊँचा उठा देता है—

लज्ज्य ग्लानि क्षमा, पार्थ कैसी ?
मारा नहीं तुमने मुझे—और मैं मरा नहीं
मारने मरने वाला तो कोई और है।
तुम नहीं समझोगे, प्रभु जानते हैं।।

श्रीकृष्ण से भी वह यही वर माँगता है—मेरे समान कोई और मानव ऐसी यातना न सहे। विनोद रस्तोगी ने 'सूत पुत्र' में नाटकीय धरातल पर कर्ण के जीवन के उदात्त,उदार और उच्चतम व्यक्तित्व के साथ उसके जीवन की आंतरिक यातना को भी अभिव्यक्ति दी है। यहाँ कर्ण एक प्रतीक पात्र बन जाता है—उन सबका जो झूंठी कुल-मर्यादा, खोखले मूल्यों और सारहीन परम्परा के शिकार हैं।

सूर्यपुत्र : जगदीश चतुर्वेदी

1984 में प्रकाशित श्री जगदीश चतुर्वेदी का 'सूर्य पुत्र' एक मिथकीय काव्य है, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ ही ग्रहणीय है। कवि को सूर्य पुत्र के जीवन से लगाव था, क्योंकि वह भयावह एकान्त और मानसिक वात्याचक्र में पिसते हुए शौर्य का जीवन्त दर्शन बन गया है। वह द्वापर युग का कालजयी व्यक्तित्व है—अनन्त संघर्षों को भोगने वाले निराशक्त योद्धा का, यातनामय, किन्तु अत्यन्त विनयी और त्यागमय (विनयी पर संदेह हो सकता है, क्योंकि कर्ण अहंकारी तो था ही) कवि के लिए कर्ण आधुनिक मानव की दुश्चिंताओं को वहन करने वाला अधिनायक है। इसी से कवि ने अनेक घटनाओं को नया रूप दिया है। 14 सर्गों में प्रणीत यह काव्य कर्ण के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु का जीवन आलेखित करता है। कर्ण के जन्म पर कुंती कहती है कि वह सभ्यता के इतिहास में नया प्रतिमान बनकर जिएगा और कर्ण जैसे उससे कह रहा है—

विदा दो अब।
जा रहा हूँ युद्ध पर मैं।
जल्दी ही लौटूंगा, माँ।

यह युद्ध—यह संग्राम उसके जीवन का संग्राम है। कुन्ती वह आधुनिकता है, जिसे एक ओर प्रेम है और दूसरी ओर समाज का अज्ञात भय। जगदीश चतुर्वेदी का कर्ण शैशव से ही ब्राह्मण पुत्रों से वाग्युद्ध करता है। शस्त्र-परीक्षा में कुन्ती को 'लगता है परिचित–सा मेरे अवयवों को' पर अर्जुन उसे शूद्र कहता है। सूर्य पुत्र का कर्ण एक अनोखा व्यक्ति है, वह उन्मन, उदास रहकर अनबूझ पहेली से सदा उद्विग्न है। उसे 'अनन्त त्याग की अभिलाषा—

सदैव निर्धन, वस्त्रहीन बनने की। इन सबके परे उसके हृदय में प्रतिशोध और प्रतिहिंसा का भाव भी प्रबल था—वह जीवन भर अर्जुन और द्रौपदी द्वारा किए गए अपमान को नहीं भूल पाया। सूर्य पुत्र में कर्ण के पास जाने के पूर्व कुन्ती की मानसिक दशा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन कवि ने किया है—

मेरे कौमार्य का पहला प्रगाढ़ स्नेह
मेरे आह्वान का प्रज्वलित सूर्य चिन्ह
कैसे बतलाऊँ मैं उसे अपना वैध प्रेम !!

कर्ण का कथन है कि माँ द्वारा मुझे निर्वासन और पिता द्वारा अवहेलना की प्रवंचना ने मुझे सदैव घेर रखा है। इस काव्य में कर्ण के चिन्तन का एक और नवीन पक्ष उसका आत्म-विश्लेषण और युद्ध की एक निस्सारता एवं अर्जुन के प्रति उसके द्वेष की व्यर्थता का बोध है। अन्य शेष प्रसंग प्रायः महाभारत की कथा पर आश्रित हैं पर अन्त का सर्ग 'युगान्त' एक श्रेष्ठ रचना है। कर्ण की मृत्यु पर कृष्ण अपना मुँह ढाँप लेते हैं। कुन्ती अपने को धिक्कारती है, क्योंकि--

मेरी ही चुप्पी से हुआ यह महायुद्ध,
मेरी ही चुप्पी से रंग गया कुरुक्षेत्र,
मैंने ही बनाया अनाथ गांधारी को
मैंने ही छीन लिए पुत्र सुभद्रा और द्रौपदी के।

कर्ण की मृत्यु पर कवि कहता है--

कर्ण के निधन से डूब गया एक सूर्य
नक्षत्र दैदीप्यमान,
द्वापर का अन्त हुआ–
आएगा नया युग–;
युग का निर्माण करते हैं विश्व जयी
कर्ण का अन्त ही द्वापर का अन्त है।

कर्ण द्वापर के युग का हस्ताक्षर था।

अन्य कृतियाँ

इन कृतियों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा ने 'त्रिपथगा' में कर्ण का चरित्र शब्दबद्ध किया है। वे कर्ण को 'निष्कलंक, उदात्त, पराक्रमी, दानी और सर्वाधिक प्रभावित करने वाला चरित्र मानते हैं। वर्माजी की दृष्टि कर्ण का अर्जुन द्वेष द्रौपदी के कारण था, वे कर्ण की अहमन्यता पर मुग्ध हैं—इस रेडियो नाटक में उन्होने कर्ण का

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यह युद्ध से प्रारम्भ होता है। वहीं शल्य द्वारा की गई अवमानना के उत्तर में कर्ण कहता है—

मैं सूतपुत्र, मैं हूँ मनुष्य में पावन
मैं निष्कलंक, मैं अकलुष, मैं कृतधारी
मैं जीवित हूँ निज भुजदण्डों के बल पर
मैं राज्य लोभ से बना कभी न भिखारी ।।

वह कुन्ती की भर्त्सना यह कह कर करता है कि तुम मुझे 'पुत्र' कहकर संबोधित मत करो—और यह भिक्षुओं की माँ भिक्षा माँगने आयी है। वर्माजी ने कर्ण से अपनी मृत्यु के समय भी सोने के दांत का दान कराया और संभवतः पहली बार किसी लेखन ने इसकी प्रस्तुति की है। कर्ण के प्रति शल्य का यह कथन ही कवि का मूल प्रयोजन है—

देवत्व बड़ा दुर्गन्ध युक्त सरवर है
मानवता तो है निर्झरिणी-सी जीवित

उनका 'कर्ण' इसी मानवता का मूर्त रूप है।

मोहनलाल अवस्थी 'मोहन' के द्वारा 1953 में रचित काव्य 'महारथी' में भी कर्ण का चरित्र व्याख्यायित हुआ है। पाँच सर्गों के इस ग्रन्थ में प्रायः वे ही प्रसंग हैं, जिनका उल्लेख हम अन्य ग्रंथों में कर आए हैं। केवल एक मौलिक स्थल है जहाँ वह कृष्ण से कहता है कि कुन्ती 'जननी' कहला सकती है, माता नहीं। कवि ने स्थान-स्थान पर उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा 'शूद्र' कहलाया है, यहाँ तक कि अर्जुन भी उसकी मृत्यु पर कहता है 'किन्तु शूद्र को मार गिराना पाप न कहलाता है'। शल्य अपने व्यंग्य में सारथी बनने पर उसे महाभारत का 'कौए और हंस का उपाख्यान' कहकर कौरवों का उच्छिष्ट खाने वाला काग कहता है। श्री अवस्थी का यह काव्य केवल खाना पूर्ति ही है।

इन सबके अन्त में मैं डॉ० देवराज की 'आहत आत्माएँ' में 'कर्ण राधेय' लम्बी कविता पर विचार करूँगा। कवि ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि उसकी रचना दृष्टि दिनकर से मूलतः भिन्न है—शीर्षक से ही स्पष्ट है कि वे कर्ण को 'रश्मि-रथी' न गिनकर 'आहत आत्मा' मानते हैं वर्णभेद की अभिव्यक्ति से कर्ण के जीवन का औचित्य नहीं मिल सकता। उसके लिए आवश्यक है कि सांस्कृतिक समृद्धि का परिचय देने के लिए कवि एक गहरे अर्थ में वह अपने देश-काल अथवा युग के संघर्षमूलक अनुभवों को वाणी दे और इसके लिए 'विजन' और 'पैशन' अर्थात् व्यापक दृष्टि और आवेग आवश्यक है। 'कर्ण राधेय' का प्रारम्भ युद्ध के पूर्व एक गहरे संशय से

होता है वह किसी अतिरिक्त आशंका से अँधेरे गर्त में डूब रहा है। भीष्म युद्ध को कर्ण के 'द्वेष को दग्ध विषधर स्वभाव' का हेतु मानते हैं, पर कर्ण अपने आत्म-विश्लेषण में बार-बार पूछता है—

कौन हैं वे, जिन्होंने मनुष्य के समाज को वर्णों और वर्गों
में विभाजित किया है।
कौन हैं वे स्वनिर्वाचित नेता, जिन्होंने मानव को
सहज अधिकारों और समुचित स्वाभिमान से वंचित किया है ?

कर्ण की आहत आत्मा उसे कहती है उसके जीवन में कहीं भी सांगीतिक लय, गीत और छन्द नहीं हैं—वह पामर है, नीच है—उसे भीष्म और द्रोण की अकारण भर्त्सना मिली है, वह सारी परम्परा को चुनौती देता है, इसी से 'गृह युद्ध की भीषण ज्वालाओं में यह देश, विकृत सामाजिक और सांस्कृतिक तंत्र जलेगा और मन में द्रोपदी, पांचों पांडव, कुन्ती आदि सबको स्मरण करता है। द्रौपदी पर उसका आक्षेप है।

"जब पाँच–पाँच पतियों की आज्ञाकारिणी
वधू बन गई
तो मानो कर्ण के मन-चित्र की ऊँचाइयों में प्रतिष्ठित
तुम्हारी भाव प्रतिमा
खण्ड-खण्ड हो कहीं शून्य में बिखर गई।"

क्योंकि अर्जुन तो कदम-कदम पर नए विवाह रचाता है। इस प्रकार कर्ण का मन सबके लिए घृणा से भर गया है विशेषतः द्रौपदी के लिए। यही नहीं उसका आहत स्वर दुर्योधन पर भी कठोर आक्षेप करता है—

तुम्हें प्रसन्न करने और रखने के लिए
अभागे कर्ण ने क्या-क्या स्वांग नहीं रचा ?
पर तुम्हारा मन ! (अर्थात् दुर्योधन)

वह वर्ग और वर्ण की वरीयताओं से न तो मुक्त था और न असंपृक्त, वह उसके व्यवहार से भी दुःखी है ? कुन्ती से कहता है–

'तुम्हारे अभिनव यौवन का पहला पुष्प प्रसाद
तुम्हारी भूल का मूर्तिमान प्रायश्चित है"—

वह अभागा है–उसके जीवन का इतिहास भी टेढ़ा-मेढ़ा है। देवराज के कर्ण को युद्ध से घृणा है—उसका मन उत्साहहीन और उदास है। वह अपने से पूछता है—(क्या प्रतिशोध एक बचकाना प्रयास नहीं है) यहीं कर्ण दूसरी ओर विश्व के

INSTITUT OF ADVANCED ... 95181

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यह युद्ध से प्रारम्भ होता है। वहीं शल्य द्वारा की गई अवमानना के उत्तर में कर्ण कहता है--

मैं सूतपुत्र, मैं हूं मनुष्य में पावन
मैं निष्कलंक, मैं अकलुष, मैं कृतधारी
मैं जीवित हूं निज भुजदण्डों के बल पर
मैं राज्य लोभ से बना कभी न भिखारी ।।

वह कुन्ती की भर्त्सना यह कह कर करता है कि तुम मुझें 'पुत्र' कहकर संबोधित मत करो–और यह भिक्षुओं की माँ भिक्षा माँगने आयी है। वर्माजी ने कर्ण से अपनी मृत्यु के समय भी सोने के दांत का दान कराया और संभवतः पहली बार किसी लेखन ने इसकी प्रस्तुति की है। कर्ण के प्रति शल्य का यह कथन ही कवि का मूल प्रयोजन है--

देवत्व बड़ा दुर्गन्ध युक्त सरवर है
मानवता तो है निर्झरिणी-सी जीवित

उनका 'कर्ण' इसी मानवता का मूर्त रूप है।

मोहनलाल अवस्थी 'मोहन' के द्वारा 1953 में रचित काव्य 'महारथी' में भी कर्ण का चरित्र व्याख्यायित हुआ है। पाँच सर्गों के इस ग्रन्थ में प्रायः वे ही प्रसंग हैं, जिनका उल्लेख हम अन्य ग्रंथों में कर आए हैं। केवल एक मौलिक स्थल है जहाँ वह कृष्ण से कहता है कि कुन्ती 'जननी' कहला सकती है, माता नहीं। कवि ने स्थान-स्थान पर उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा 'शूद्र' कहलाया है, यहाँ तक कि अर्जुन भी उसकी मृत्यु पर कहता है 'किन्तु शूद्र को मार गिराना पाप न कहलाता है'। शल्य अपने व्यंग्य में सारथी बनने पर उसे महाभारत का 'कौए और हंस का उपाख्यान' कहकर कौरवों का उच्छिष्ट खाने वाला काग कहता है। श्री अवस्थी का यह काव्य केवल खाना पूर्ति ही है।

इन सबके अन्त में मैं डॉ॰ देवराज की 'आहत आत्माएँ' में 'कर्ण राधेय' लम्बी कविता पर विचार करूँगा। कवि ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि उसकी रचना दृष्टि दिनकर से मूलतः भिन्न है—शीर्षक से ही स्पष्ट है कि वे कर्ण को 'रश्मि-रथी' न गिनकर 'आहत आत्मा' मानते हैं वर्णभेद की अभिव्यक्ति से कर्ण के जीवन का औचित्य नहीं मिल सकता। उसके लिए आवश्यक है कि सांस्कृतिक समृद्धि का परिचय देने के लिए कवि एक गहरे अर्थ में वह अपने देश-काल अथवा युग के संघर्षमूलक अनुभवों को वाणी दे और इसके लिए 'विजन' और 'पैशन' अर्थात् व्यापक दृष्टि और आवेग आवश्यक है। 'कर्ण राधेय' का प्रारम्भ युद्ध के पूर्व एक गहरे संशय से

होता है वह किसी अतिरिक्त आशंका से अँधेरे गर्त में डूब रहा है। भीष्म युद्ध को कर्ण के 'द्वेष को दग्ध विषधर स्वभाव' का हेतु मानते हैं, पर कर्ण अपने आत्म-विश्लेषण में बार-बार पूछता है—

कौन हैं वे, जिन्होंने मनुष्य के समाज को वर्णों और वर्गों
में विभाजित किया है।
कौन हैं वे स्वनिर्वाचित नेता, जिन्होंने मानव को
सहज अधिकारों और समुचित स्वाभिमान से वंचित किया है ?

कर्ण की आहत आत्मा उसे कहती है उसके जीवन में कहीं भी सांगीतिक लय, गीत और छन्द नहीं हैं—वह पामर है, नीच है—उसे भीष्म और द्रोण की अकारण भर्त्सना मिली है, वह सारी परम्परा को चुनौती देता है, इसी से 'गृह युद्ध की भीषण ज्वालाओं में यह देश, विकृत सामाजिक और सांस्कृतिक तंत्र जलेगा और मन में द्रोपदी, पांचों पांडव, कुन्ती आदि सबको स्मरण करता है। द्रौपदी पर उसका आक्षेप है।

"जब पाँच–पांच पतियों की आज्ञाकारिणी
वधू बन गई
तो मानो कर्ण के मन-चित्र की ऊँचाइयों में प्रतिष्ठित
तुम्हारी भाव प्रतिमा
खण्ड-खण्ड हो कहीं शून्य में बिखर गई।"

क्योंकि अर्जुन तो कदम-कदम पर नए विवाह रचाता है। इस प्रकार कर्ण का मन सबके लिए घृणा से भर गया है विशेषतः द्रौपदी के लिए। यही नहीं उसका आहत स्वर दुर्योधन पर भी कठोर आक्षेप करता है—

तुम्हें प्रसन्न करने और रखने के लिए
अभागे कर्ण ने क्या-क्या स्वांग नहीं रचा ?
पर तुम्हारा मन ! (अर्थात् दुर्योधन)

वह वर्ग और वर्ण की वरीयताओं से न तो मुक्त था और न असंपृक्त, वह उसके व्यवहार से भी दुःखी है ? कुन्ती से कहता है–

'तुम्हारे अभिनव यौवन का पहला पुष्प प्रसाद
तुम्हारी भूल का मूर्तिमान प्रायश्चित है"—

वह अभागा है–उसके जीवन का इतिहास भी टेढ़ा-मेढ़ा है। देवराज के कर्ण को युद्ध से घृणा है—उसका मन उत्साहहीन और उदास है। वह अपने से पूछता है—(क्या प्रतिशोध एक बचकाना प्रयास नहीं है) यहीं कर्ण दूसरी ओर विश्व के

INSTITUT OF ADVANCED ... 95181

समस्त हब्शी, निषाद, स्वपच, चांडालों का कष्ट प्रतिकार कर परितोष प्राप्त करना चाहता है । 'आहत आत्माएँ' का राधेय चारों ओर अभिशापों, घृणाओं, कुत्साओं और अपमानों से घिरा है--कवि ने उसकी दानवीरता, उदारता, मित्रता, वीरता आदि का उल्लेख न कर, जीवन के उस विषाद का चित्र खींचा है, जिससे उसकी आत्मा आहत है, उसकी अस्मिता अनजान और इयत्ता अबूझ । युद्ध के पूर्व की वह सांझ, नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' की भाँति उसकी प्राण प्रक्रिया और चेतना पर गहरे धुन्ध की काली चादर बिछाकर उसे आकुल और उद्भ्रान्त करती है और नियति की शक्ति उसे अपरिहार्य महाविनाश की ओर ले जा रही है । देवराज का राधेय 'रश्मिरथी' से नितान्त भिन्न आधुनिक युग का वह पीड़ित अभागा मनुष्य है, जो टूटा हुआ जड व्यक्ति है—प्रतिकार और प्रतिशोध से भरा हुआ । आत्म विश्लेषणात्मक यही लम्बी कविता अपने रचना विधान में मानव क्षण और इतिहास क्षण का सार्थक समन्वय है ।

कल्पना 1958 में प्रकाशित केशु की कविता 'सूर्य पुत्र के तीन मर्म कथन' बहु-चर्चित रही । उसका पहला कथन है कुन्ती से, दूसरा कृष्ण और अर्जुन से--तीसरा अपने तथाकथित पिता से । इन तीनों मर्म कथनों में कर्ण का आक्रोश व्यक्त हुआ है । वह कुन्ती से कहता है यदि मेरे प्रसव की पीड़ा अर्जुन की पीड़ा से कम न थी, तो मुझे कैसे चुपचाप ही बहा दिया ? ·· आज मैं सूतपुत्र हूँ और मुझे तुम्हारे अभिजात वर्ग से घृणा है' अर्जुन और कृष्ण से उसका उपालम्भ है—'मैं हमेशा विरोधी धारा में बहा । तो भी मेरा विश्वास तुम्हारी तरह नहीं लड़खड़ाया ·· ····मैं सूत पुत्र किसी के इंगित पर नहीं, निरन्तर अपनी ही दृष्टि पर चला हूँ ।' उसका तीसरा मर्म कथन सूर्य से है—'मैं तुम्हें प्रणाम नहीं करूँगा········आज यह कितनी बिडम्बना है । मैं सूर्य पुत्र होकर भी । अँधेरे में जन्मा, जिया और अँधेरे में ही मर रहा हूँ । उसकी यह आहभरी विडम्बना ही जीवन का सबसे घातक अभिशाप है ।

इस प्रकार कर्ण का जीवन आधुनिक कवियों द्वारा विभिन्न धरातलों पर अंकित हुआ है । भारतीय साहित्य के नूतन और परिवर्तित परिवेश में वह एक ऐसा चरित्र है, जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार--

आमिरब, निष्फलेर हताशेर दले
जन्म रात्रे फेले गेछो मोरे धरातले
नाम हीन, गृहहीन, । आजिओ तेमनि
आमार निर्मम चितेर तेयागे जननि
दीप्तिहीन, कीर्तिहीन, पराभव परे ।

गुजराती कवि उमाशंकर जोशी के अनुसार 'जो जन्म से हीन और भविष्य में दीन बन कर जिएँगे उन सबके कलंक का अन्याय कर्ण अपने रक्त से धोता है' ।

वस्तुत: कर्ण एक ऐसा अभागा व्यक्ति था, जिसका जीवन उसकी माता ने नष्ट किया, जो सदैव पूर्णत: अलगाव की स्थिति में रहा। उसने अपने को नष्ट कर दिया पर समय आने पर भी अपने उच्च कुल का रहस्य किसी से नहीं बताया––बताने नहीं दिया। मृत्यु के उपरान्त व्यास ने उसका अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है। दुर्गा भागवत के शब्दों में––'प्रत्येक युग में, प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक दु:ख और निराशा के क्षण में, सुख की लालसा में, पराक्रम के दुर्दम्य आवेश में, स्नेह के आविष्करण में एक कर्ण स्थान-स्थान पर अवतीर्ण होता है––मात्र क्षणार्थ के लिए––परन्तु सबकी वेदना स्वाभिमान, पराक्रम व सज्जनता का प्रतीक भी वही होता है। 'कर्ण के जीवन से बार-बार यही ध्वनित होता है 'रागे ही रगे रागे अइ रित्तें'—जन्म से न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

शिव सामन्त	मृत्युन्जयी
हरीन्द्र दवे	कृष्ण अने मानव संबंधो (गुजराती)
दुर्गा भागवत	व्यास पर्व
इरावती कर्वे	युगान्त
इन्दिरा बाई राव	सूर्य पुत्र कौन्तेय
मालकम ब्रेड बरी	सोसयल कन्टेक्स्ट आव माडर्न इंडियन लिटरेचर
जोन रोक वेल	फेक्ट्स इन फिक्शन
एफ. आर. लेविस	कामन परसूट
रोबर्ट अ गार्नर	सोसयल चेन्ज
कुप्पू स्वामी	सोसयल चेन्जेज इन इण्डिया
इवान वाटकिन्स	दि क्रिटीकल एक्ट
वार्ड एन्थोनी केनेडी	दि साइन्स आव क्रिटिसिज्म इन इण्डिया
मेलविन एच मार्स व विलियम हेलिक्स	सिस्टम एण्ड थ्योरीज आव साइकोलोजी
वासीली नोवीकोव	आर्टिस्टिक ट्रूथ एण्ड डायलेक्टिस आफ क्रियेटिव वर्क
डा० पुष्पपाल सिंह	आधुनिक हिन्दी-काव्य में कृष्ण कथा (प्रबन्ध)
जवाहरलाल यूनिवर्सिटी	हिस्पेनिक जर्नल (अंक-1)
डा० रामशरण गौड़	आधुनिक हिन्दी-काव्य में पौराणिक आख्यान

नोट—उद्धरण गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत से लिए गए हैं।

Allied Quotations :

Social consciousness is an element of social system component of historical activity—also a specific activity of social life and reflects the development of society and the individual. Social consciousness is a reflection of reality—natural and social.

(Historical Materialisim-
V. Kalle & M. Kopalson)

Changes in what is valued occur in Literature as they do in society when new social order is in conflict with old—which they strive to destroy.

(Joan Rock well)

"Man tend to humanise History seeking his fulfilment with in it, impersonalise it by unconditioned force and change in social participation."
(Malcolam Brad burry)

The Critical Act consists in being, becoming and nonbeing.
(Evan watkins)

Writer combines historical moment with a human moment.

(Ernest Fisher—Necessity of Art)

"Modern sensibility in art is a symptom of shock disturbance, insist on a general frame of reference within and beyond themselves-subsconscious representation of ideas. Writers task is to explore rather than to explain"

Modern Boetry is self-critical.

Thoe characters are depicted who are the victims of tradition and representatives of a changing world and Society—Modern Writing is under pressure.

(Henry Miller)

2

आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा

प्रिय बंधुओं,

आज दूसरा व्याख्यान आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा पर है ।

भारतेन्दु युग से लेकर अध्यावधि हिन्दी काव्य में राधा कृष्ण को लेकर अनेक प्रबन्ध, खण्ड व गीतिकाव्य लिखे गए हैं । एक निबन्ध में उन सबका वर्णन असंभव है । इसलिए मैंने वे महत्वपूर्ण ग्रन्थ ही लिए हैं, जो आधुनिक रचनात्मक चेतना के परिचायक हैं । कुछ ग्रन्थ छूट भी गए हैं, जैसे अश्वशर्मा का 'फेरि मिलिबो', दाऊदयाल गुप्त का 'राधा', नरेश चन्द्र का 'महारास', सिया रामशरण की 'गोपिका', रामावतार पोद्दार का 'सूर श्याम', गिरिजा दत्त शुक्ल गिरीश का 'प्रयाण', आदि ।

अपने व्याख्यान में कल मैंने साहित्य, समाज और संस्कृति का अपरिहार्य अन्तः संबंध बताते हुए यह स्पष्ट किया था कि साहित्य का मूल्य विधान साहित्यकार की जागरूकता और उसकी ऐतिहासिक चेतना के नवीन अधिगम में प्रस्तुत रहता, है । वर्जिनीया वुल्फ के अनुसार—'साहित्यिक सफलता का अपरिवर्तनीय अर्थ सामाजिक अनुमाप की उन्नति है—उसका ह्रास नहीं । इसीलिए साहित्यकार सामाजिक व्यवस्था के साथ चलता है । साहित्य वस्तुतः सामाजिक अनुसंधान का ही एक उपकरण है ।' इस दृष्टि से साहित्य तात्विक (Intrensic) व उपकरणात्मक दोनों (Instrumental) होता है । साहित्य का मूल्य वृहद (Macro) और सूक्ष्म (Micro) रूपों में, जिस द्वन्द्वात्मकता से गतिशील बनता है, उसमें मानवीय अस्तित्व की पूर्णता स्वतः प्रतिपादित होती है । किसी भी संस्कृति के स्वास्थ्य में सामाजिक व्यवहार और विचारधारा महत्व रखते हैं और साहित्य इसी सामाजिक व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी कारण काव्य के संबंध में लोक धर्म लोकचित्त लोकमंगल आदि शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है । साहित्य समाज की चिन्ता धारा की अभिव्यक्ति होता है तो दूसरी ओर उसका नियामक भी । साहित्य

Allied Quotations :

Social consciousness is an element of social system component of historical activity—also a specific activity of social life and reflects the development of society and the individual. Social consciousness is a reflection of reality—natural and social.

(Historical Materialisim-
V. Kalle & M. Kopalson)

Changes in what is valued occur in Literature as they do in society when new social order is in conflict with old—which they strive to destroy.

(Joan Rock well)

"Man tend to humanise History seeking his fulfilment with in it, impersonalise it by unconditioned force and change in social participation." (Malcolam Brad burry)

The Critical Act consists in being, becoming and nonbeing.

(Evan watkins)

Writer combines historical moment with a human moment.

(Ernest Fisher—Necessity of Art)

"Modern sensibility in art is a symptom of shock disturbance, insist on a general frame of reference within and beyond themselves-subsconscious representation of ideas. Writers task is to explore rather than to explain"

Modern Boetry is self-critical.

Thoe characters are depicted who are the victims of tradition and representatives of a changing world and Society—Modern Writing is under pressure.

(Henry Miller)

2

आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा

प्रिय बंधुओं,

आज दूसरा व्याख्यान आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा पर है।

भारतेन्दु युग से लेकर अध्यावधि हिन्दी काव्य में राधा कृष्ण को लेकर अनेक प्रबन्ध, खण्ड व गीतिकाव्य लिखे गए हैं। एक निबन्ध में उन सबका वर्णन असंभव है। इसलिए मैंने वे महत्वपूर्ण ग्रन्थ ही लिए हैं, जो आधुनिक रचनात्मक चेतना के परिचायक हैं। कुछ ग्रन्थ छूट भी गए हैं, जैसे अश्वशर्मा का 'फेरि मिलिबो', दाऊदयाल गुप्त का 'राधा', नरेश चन्द्र का 'महारास', सिया रामशरण की 'गोपिका', रामावतार पोद्दार का 'सूर श्याम', गिरिजा दत्त शुक्ल गिरीश का 'प्रयाण', आदि।

अपने व्याख्यान में कल मैंने साहित्य, समाज और संस्कृति का अपरिहार्य अन्तः संबंध बताते हुए यह स्पष्ट किया था कि साहित्य का मूल्य विधान साहित्यकार की जागरूकता और उसकी ऐतिहासिक चेतना के नवीन अधिगम में प्रस्तुत रहता, है। वर्जिनीया वुल्फ के अनुसार—'साहित्यिक सफलता का अपरिवर्तनीय अर्थ सामाजिक अनुमाप की उन्नति है—उसका ह्रास नहीं। इसीलिए साहित्यकार सामाजिक व्यवस्था के साथ चलता है। साहित्य वस्तुतः सामाजिक अनुसंधान का ही एक उपकरण है।' इस दृष्टि से साहित्य तात्विक (Intrensic) व उपकरणात्मक दोनों (Instrumental) होता है। साहित्य का मूल्य वृहद (Macro) और सूक्ष्म (Micro) रूपों में, जिस द्वन्द्वात्मकता से गतिशील बनता है, उसमें मानवीय अस्तित्व की पूर्णता स्वतः प्रतिपादित होती है। किसी भी संस्कृति के स्वास्थ्य में सामाजिक व्यवहार और विचारधारा महत्व रखते हैं और साहित्य इसी सामाजिक व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी कारण काव्य के संबंध में लोक धर्म लोकचित्त लोकमंगल आदि शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। साहित्य समाज की चिन्ता धारा की अभिव्यक्ति होता है तो दूसरी ओर उसका नियामक भी। साहित्य

सामाजिक दस्तावेज है और सामाजिक चेतना की रचनात्मक आधारभूमि । ए० सी० गार्नेट ने 'साहित्यकार की अभिरूचि, अर्थवत्ता और रचना शक्ति का संबंध निरूपित करते हुए लिखा है—

अभिरूचि की प्रक्रिया का तादात्म्य सचेतन सर्जनात्मक प्रक्रिया से ही सम्बद्ध है और वह पुनः मूल्य विधान से। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि समस्त अभिरूचि अपने अंतरंग विधान में प्रेयमय होती है एवम् लज्जादि मूल्य उसी की आपूर्ति है।' इस दृष्टि से कोई भी रचनात्मक चेतना निरन्तर प्रयास मूलक प्रक्रिया (Striving process) है। एफ० आर० लेविस ने इसे और भी स्पष्ट किया है। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'सोशयोलोजी एण्ड लिटरेचर' में वे लिखते हैं—

जिस युग में परम्परा दृढ़ हो जाती है, वही वह युग है जिसमें साहित्यकार समाज से अपनी इयत्ता स्थापित करता है और तब अपनी सर्जनात्मक मानसिकता से अनिवार्यतः उसका विरोध और प्रत्याख्यान करता है।

इस संदर्भ में यदि हम आधुनिक हिन्दी काव्य का अध्ययन कर तो उसकी कुछ अन्तर्मुक्त विशेषताएं हमारे सम्मुख स्पष्ट होंगी विशेषतः नारी चरित्रों के अध्ययन में। नारी चरित्रों की ही क्यों? पुरुष पात्रों के जीवन को भी इन कवियों ने एक नए दृष्टिकोण से देखा है। कुछ ने तो "दैत्यवंश" और "रावण महाकाव्य" भी लिखे। श्रीराम का चरित्र भी साकेत से लेकर भारतभूषण के अग्निलीक या नरेश मेहता के प्रवाद पर्व तक न जाने कितने रूप प्राप्त कर चुका है। आधुनिक हिन्दी काव्य ने पौराणिक और ऐतिहासिक नारी चरित्रों को अभिनव आयाम दिए हैं। साकेत से लेकर रत्नावली तक गुप्तजी ने विविध नारी चरित्रों के माध्यम से यह स्थापित करना चाहा कि "दो-दो मात्राएँ लेकर है नर से भारी नारी"। एक ओर उन्होंने उर्मिला और कैकेयी का चरित्रोत्थान किया तो दूसरी ओर यशोधरा, राधा, विष्णुप्रिया और रत्नावली का। जो चरित्र उपेक्षित और तिरष्कृत थे जैसे कैकेयी, शबरी, अहिल्या, मांडवी आदि उनकी मुक्त हृदय से आधुनिक कवियों ने अवतारणा की। इसी प्रकार कृष्ण काव्य के चरित्रों में राधा, कुब्जा, द्रौपदी, गांधारी आदि ने नूतन जीवन प्राप्त किया, तो दूसरी ओर शैव्या, शकुन्तला, दमयन्ती भी भूली नहीं गयीं। वस्तुतः हिन्दी काव्य की यह अन्तंधारा समाजशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध व महत्वपूर्ण है। नारी चरित्रों के इस नूतन अभिनिवेश का कारण चाहे 19वीं शताब्दी से भारतीय समाज और संस्कृति का रिनेसां रहा हो या मानववादी विचारधारा की बहुलता इसमें कोई संदेह नहीं कि सामाजिक विकास के ऐतिहासिक सातत्य और परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था में हमारे कवियों की मानसिकता और उनकी रचनार्धमिता ने नए क्षितिज छुए, जिनमें नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वोपरि है। इस मानसिकता का प्रमुख हेतु है मानवीय संगति और साहित्यिक संस्कृति का नवीन सामन्जस्य। इसी से हेनरी

मिलर ने कहा था—"कला कभी-कभी संस्कृति का आश्लेष न होकर प्रति संस्कृति की व्याख्या करती है।" मैथ्यू आरनाल्ड के अनुसार, "समृष्कृष्ट साहित्य सर्जना के लिए दो शक्तियों का सामन्जस्य अत्यन्त आवश्यक है, व्यक्ति की रचनात्मक शक्ति और समय की गत्यात्मक स्फूर्ति।"

एक ओर जहाँ आधुनिक काव्य में नारी के सामाजिक अभिशापों और विसंगतियों का खुलकर विविध रूपेण वर्णन मिलता है, वहीं दूसरी ओर नारीत्व की उस करुणा का भी, जो सदैव ही पुरुष के हाथों अपनी आकांक्षाओं, अधिकारों और उपेक्षाओं से पीड़ित, स्वतंत्र और परित्यक्त रही। यदि हम मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, बलदेव प्रसाद मिश्र का साकेत, संत और उदय शंकर भट्ट का अर्न्तमंथन, प्रभात की कैकेयी आदि का चारित्रिक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि मानस की कैकेयी और इस आधुनिक कैकेयी में कितना अन्तर है ? यह अन्तर हम सीता, उर्मिला और यशोधरा में भी पायेंगे। इसी प्रकार कृष्ण कथा के नारी पात्रों में एक विशिष्ट चरित्र राधा का भी है। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में राधा का चरित्र अत्यन्त लोकप्रिय रहा और यह लोकप्रियता धार्मिक और दार्शनिक न होकर मानवीय धरातल और संवेदनशीलता पर आधृत थी। हाल की गाथा सप्तशती की शृंगारिकता से लेकर कृष्ण काव्य का आधुनिक रूप इसे प्रमाणित करता है। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर भी सूरदास ने राधा को मानवीय भूमिका पर एक उदात्त प्रेमिका के रूप मे चित्रित किया है। यदि हम मध्ययुगीन हिन्दीतर साहित्य पर दृष्टिपात करें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। गौड़ीय वैष्णव विचारधारा में 'गीत-गोविन्द' चाहे जितना धार्मिक ग्रन्थ गिना जाए पर उसका प्रारम्भ तो इसी श्लोक से होता है—

"मेघेर्दुम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैः
नक्त भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधेगृह प्रापय

"भीरु शिशुवतभय शील"। सूरदास ने भी इस पद का ही अनुसरण करते हुए कहा है—

गगन घहराई जुटी घटा कारी।
कन्हैया वृषभानु की कुंवरि सों बोलि कै राधिका कान्ह।
लिए घर जारी।

लीलाशुक के कृष्ण वर्णामृत में भी राधा की सारी अकुलाहट प्रेम की अकुलाहट है। विल्वमंगल प्रेम रस के कवि हैं और वही विद्यापति भी। तमिल की आलवार भक्ति नपिन्नै से लेकर सुब्रह्मण्य भारती के कन्ननपाट्टु, राधा गीत परम्परा और लोक साहित्य की कुम्भी, कोलाट्टम लोकगीतों में राधा विद्यमान है। मराठी में नामदेव का राधा-विलास, एकनाथ का 'राधा-यशोदा-संवाद' और 'राधा-कृष्ण प्रसंग, वामन पण्डित की रचनाओं से लेकर १९वीं शताब्दी के शाहीरों

की राधा प्रीति और आधुनिक युग द० अ० आप्टे का 'राधा जीवन' महाराष्ट्र में राधा की लोकप्रियता का—उसके अगाध प्रेम का प्रमाण है। आधुनिक मराठी साहित्य में राधा को लेकर अनेक कविताएँ व नाटक लिखे गए। मलयालम साहित्य में 15वीं सदी से लेकर आधुनिक युग के कवि शंकर कुरूप, चंद्रपुषा, कृष्णशिला का राधा-प्रेम व सुगतकुमारी की चिर विरहिणी राधा को कौन भूल सकता है? मध्ययुगीन कन्नड़ साहित्य में तिरुमलार्य के 'गीत-गोपाल' और रुद्रभट्ट के 'जगन्नाथ विजय' पर जयदेव और लीलाशुक का प्रभाव स्पष्ट है--कुछ में राधा का प्रत्यक्ष उल्लेख न भी हो, पर जिस अनामिका गोपी की विरह व्यथा का विवेचन है, वह अन्य कौन हो सकती है? आधुनिक युग में पु० वि० नरसिंहाचार के 'गोकुल निर्गमन' नाटक की भांति अनेक रचनाओं में राधा के प्रेम का वर्णन है। तेलगू के अन्नमाचार्य की (जो सूरदास के प्रायः समकालीन थे) राधा-कृष्ण लीलाएँ, नारायण तीर्थ (1675-1704) का राधा माधव, अष्ट सखी परम्परा के 'मंगल काव्य' और आधुनिक युग में विश्वनाथ सत्य-नारायण, चल्ला लक्ष्मीनारायण शास्त्री आदि ने राधा को पूर्णतः अपनाया है। उत्कल साहित्य में तो प्रारम्भ से ही राधा बहुचर्चित रही। श्री यशोवंत शास्त्री की ब्रह्मगीता, श्री ईश्वरदास का चैतन्य भागवत, बोली साहित्य में अर्जुनदास की फूलमाला-पोई साहित्य में राधा कृष्ण की प्रेम क्रीड़ा और आधुनिक साहित्य में रचित असंख्यगीत राधा-कृष्ण के प्रेम के साक्षी है। गुजराती साहित्य में नरसिंह मेहता की षोडशी राधा के लिए कृष्ण की आकुलता सदैव स्मरण रहेगी—उसी प्रकार दयाराम, प्रेमानन्द और आधुनिक युग के सुन्दरम उमाशंकर जोशी, राजेन्द्र शाह, सुरेशदलाल, प्रियकांत मणि-यार आदि सभी ने राधा के विविध रूपों पर अनेक कविताएं लिखीं। पंजाबी साहित्य में राधा पर लिखे गए बारहमासा, बाखुरेदार (17वीं शताब्दी) की वियोगिनी का कामार्त रूप, सोंधाः (18वीं शताब्दी) की रूप गर्विता, सीहार्फीवेंत की चंचलकुमारी व मूलसिंह का कुरूक्षेत्र में राधा कृष्ण मिलन, दयाल सिंह की स्वकीया और आधुनिक कवि धनीराम का राधा संदेश और मिलखीराम का कृष्ण बिछोड़ा काफी लोकप्रिय हो चुके हैं। पंजाबी कृष्ण काव्य की राधा पूर्णतः पार्थिव और लौकिक है। असमिया साहित्य की राधा के विषय में डा० बनिकान्त बरुआ का कथन है कि 12वीं शताब्दी के कृष्ण-कीर्तन से लेकर मध्ययुग के शंकरदेव व माधवदेव की बाल सखी तक और उसके आगे कलापचन्द्र द्विज के राधा चरित्र और आधुनिक वैवाहिक मिथकीय लोक गीत (अनामी का अभागिनी जैसे अनेक) राधा की साहित्यिक व्याप्ति के प्रमाण हैं। बंगला साहित्य तो राधा से भरा पूरा है—लोक-गीत परम्परा हो या शिष्ट साहित्य सभी एक दृष्टि से राधामय हैं। पश्चिम बंगाल में कहावत है—'कानू छाड़ा गीत नाई'—पता नहीं राई कानू (राधा का अपभ्रंश नाम राई—और कृष्ण का कानू कहाँ से आकर बंग मानस में ऐसे पैठ गए कि "अब कैसे हूं निकसत नाहि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु गड़े"। जयदेव, विद्यापति, वचुचंडा दास, चण्डीदास गौड़ीय भक्ति

साधना का राधा-भाव, गोविन्ददास कविराज से माइकेल मधुसूदन की ब्रजांगना तक (जिसमें राधा का चरित्र आकुल आतुर प्रेम का मूर्त रूप है) ने राधा को नई क्रान्ति दी। और तो और, ब्रजबूलि के आधार पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी भानू सिंहेर पदावली में प्रेम और सौन्दर्य की दृष्टि से राधा को देखा है—और आज भी अनेक बंगला कवियों का राधा-मोह नई दिशाएँ खोज रहा है। साहित्य में व्याप्त राधा का यह स्वरूप चित्रण इस सत्य को निर्विवाद उद्घाटित करता है कि भारतीय मानस को कृष्ण से राधा कम प्रिय नहीं रही और यही सार्थक प्रश्न उसके 'कारण' का उठता है? इसका सीधा और संक्षिप्त उत्तर है—समर्पित प्रेम की उच्चतम स्थिति, जो संयोग से प्रारम्भ होकर वियोग झेलती हुई योग में परिणत हो जाती है। जयदेव के गीत गोविन्द के अखिल भारतीय प्रभाव का भी यही कारण है। भारतीय संस्कृति और समाज में नारी दया, कोमलता, शांति, प्रेम, त्याग और बलिदान की मूर्ति है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उसी से पिता 'जायते पुनः'। गीत गोविन्द का प्रारम्भ भी तभी होता है, जब आकाश बादलों से काला पड़ जाता है—और मार्ग घने अंधकार से घोर वन में जाता है, इसी प्रकार जब हम भी एकाकी हताश और हतप्रभ हो जाते हैं, तभी किसी नारी का स्नेहाचल हमें शक्ति, प्रेरणा और स्फूर्णा देता है। इसी से भारतीय मनीषा ने 'काम' को स्वाभाविक और मूल बीज वृत्ति के रूप में स्वीकार कर उसे पुरुषार्थ गिना और अर्ध नारीश्वर की कल्पना की, जिसमें नर और नारी 'एकत्व' की पूर्ण स्थिति तक पहुँचते हैं। वेद विद ब्राह्मण पति को भी 'पत्नी' समझते हैं—आधुनिक मनोविज्ञान भी यही मानता है। प्रेम न तो रहस्य है और न विकृत काम लिप्सा ही। सच्चा प्रेम सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। इसी ने इसे 'शुद्ध सत्व विशेषात्मा' कहा गया। प्रसिद्ध श्लोक के अनुसार—

'सर्वेरसाश्च भावाश्व तरंगा इव वारिधौ
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेम संज्ञकः।

आदर्श नारी प्रेम की इसी उच्चतम स्थिति का प्रतीक है, देहातीत व कालातीत आदर्श का, मानवीय पूर्णता की चरमता का। डा० राधाकृष्ण के अनुसार संसार की महान प्रेम कथाएँ निष्ठाशील प्रेम की ही कथाएँ हैं। कष्टों और वेदनाओं में भी निष्ठा को बनाए रखना वह वस्तु है, जिसने संसार को द्रवित कर दिया है। सच्चे प्रेम का मार्ग कभी सुगम नहीं रहा। कालिदास की परित्यक्ता सीता भी सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर अगले जन्म में राम को ही पति पाने का वरदान मांगती है (रघुवंश 14-661)। महाभारत में द्रौपदी सत्यभामा से कहती है—सुखं सुखे नेह न जातु लभ्यं, दुःखैन साध्वी लभते सुखानि (वन पर्व 233-4) जिस नारी ने विपत्ति और वियोग नहीं झेला, वह अपूर्ण है, "चाहे वह कालिदास की शकुंतला हो या सूर की 'राधा', या प्रसाद की, 'श्रद्धा', या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'चित्रा' सबमें यही सत्य व्याप्त है। पुनः डा० राधाकृष्णन के अनुसार देवता भी विचित्र है। हममें जो कुछ

अच्छा, मनोवचित और प्रेममय अंश है, उसी के द्वारा वे हमें कष्टों में ला पटकते हैं। शताब्दियों की परम्परा ने भारतीय नारी को सारे संसार में सबसे अधिक निःस्वार्थ, सबसे अधिक आत्म त्यागी, सबसे अधिक धैर्यशील और सबसे अधिक कर्तव्यपरायण बना दिया है—उसे अपने कष्टों पर गर्व है।' (हिन्दू समाज में नारी) भारतीय नारी का यह विराट व्यक्तित्व-प्रेम की यह समर्पित भूमिका त्याग का यह उदात्त रूप और दुःखों के मध्य अतुलनीय शक्ति, अडिग आस्था और अशेष दृढ़ता उसे नर से बहुत ऊपर उठा देती है।

भारतीय लोक मानस में राधा को जो सर्वोपरि स्थान मिला, उसका यही कारण है। वह नारीत्व का पूर्ण प्रतीक बन गई। मेरी दृष्टि में राधाकृष्ण के मानवीय प्रेम की यही स्थिति है, जिसने प्रत्येक युग के साहित्यकार को चाहे वह कवि हो या नाटककार—औपन्यासिक हो या निबन्ध लेखक आकृष्ट किया। हिन्दी के अप्रतिम गायक व राधा और कृष्ण के रूप रस के साधक कवि सूरदास और उनके पूर्व और परवर्ती काव्य में, चाहे वह राधा माधव के नेह का प्रसंग हो या उनकी गुप्त प्रीति का या गोविन्द गोपाल के सौन्दर्य बोध का, यह धारा अजस्र और अबाध रूप से प्रवाहित रही। अष्टछाप की नवीं वीणा भारतेन्दु ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर भी इसी मानवीय धरातल पर राधा कृष्ण के प्रेम को उत्कीर्ण किया। आधुनिक काल में द्विवेदी युग और छायावादी काव्य में भी राधा कवियों के अन्तर्मन पर छायी रही। राधा का प्रेम आधुनिक युग में मिथकीय बन गया क्योंकि मिथक भी अन्ततोगत्वा एक संश्लिष्ट और संसिद्ध सांस्कृतिक परम्परा का ही लोक-सिद्ध रूप है और इसी के माध्यम से कवि 'इकोलोजीकल वैलैंस' स्थापित करता है। उदार समाज और उसकी उन्मुक्त मानसिकता में आज का कवि जिस आंतरिक मानवीय संकट, चुनौतियों के विक्षेप और संवेदनाओं के मध्य अपनी रचना प्रक्रिया से गुजर रहा है, उसमें उसकी विचारधारा व्यापक यथार्थ और अनुभवों के मध्य यही अंतर्निहित तथ्य खोजती है। यथार्थ केवल चाक्षुष नहीं मानसिक भी होता है और इसे ही मार्क्स ने इतिहास-क्षण एवम् मानवीय क्षण का समन्वित बोध कहा है। इसी में मनुष्य जीवन की पूर्णता व उसकी इयत्ता विद्यमान है। राधा का जीवन इसी पूर्णता का मूर्त रूप है। जीवन की यथार्थ भूमि पर मानवतावादी दृष्टि के कारण आज का कवि-कलाकार सृजन के नए आयाम खोजकर अपनी संप्रेषणीयता को नए स्वर दे रहा है—वह जीवन के आंतरिक सौन्दर्य को निकट से प्रत्यक्ष देखने की एक प्रक्रिया है—इसी से आज कवि की दृष्टि कृष्ण पर भी गीता या बाललीला के माध्यम से गुजरकर राधा से ही अधिक गुजरती है। साहित्य के मूल्य जीवन की गति और धारा से इसी प्रकार जुड़े रहते हैं। छायावादी कवियों के अचेतन अवचेतन में भी राधा, रास, मुरली व गोपियों की मौन व्यथा सदैव विद्यमान रही। प्रसाद की प्रारम्भिक कविताओं से लेकर कामायनी तक मुरली रास आदि का सचेत स्मरण किया है। 'प्राणमादन' और 'रसकन ढरते' के गीत

इसके साक्षी हैं—जैसे—मधुर मुरलिया श्याम की। कानन कुसुम की 'कुरुक्षेत्र' कविता में उन्होंने महारास के समय राका के रुकने की बात कही है। 'आँसू' में तो यह भाव और भी स्पष्ट है।

छाया नट छवि पर्दे में सम्मोहन वेणु बजाता।
संध्या कुहुकिनि अंचल में कौतुक अपना कर जाता ॥

× × ×

निष्ठुर यह क्या छिप जाना, मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह निशा की हम होंगे औ दुःख होगा ॥

× × ×

नीरव मुरली, कलरव चुप, अलिकुल वन्दन नलिन में।
कालिन्दी बही प्रणय की, इस तम मय हृदय पुतिन में ॥

और तो और कामायनी में श्रद्धा का प्रसंग है—

संगीत मनोहर उठता मुरली बजती जीवन की।
संकेत कामना बनकर बतलाती दिशा मिलन की ॥

निराला ने 'यमुना के प्रति' कविता में स्पष्ट कहा है—

कहाँ छलकते अब वैसे ही ब्रज नागरियों के गागर।
कहाँ भींगते अब वैसे ही बाहु उरोज अधर अम्बर ॥
बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गए नट नागर श्याम।
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहां आज वह वृन्दाधाम ॥
कभी यहाँ देखे थे जिनके श्याम विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृग नीर ॥

'यमुना के प्रति' कविता में जहाँ एक और 'मोहन के सम्मोहन' का ध्यान है, वहाँ दूसरी और उसके तट पर राधा के क्षुब्ध प्रेम का पारावार भी उमड़ रहा है—और वह पथ पर उदास—निराश बैठी आकाश की ओर ताक कर अपनी विफल वासनाओं से विगलित हो रही है ! निराला ने तो यहां तक कह दिया कि 'जिधर देखिए श्याम विराजे; 'अर्चना' में जहां उन्होंने 'श्याम श्यामा के युगलपद' देखे हैं, वहाँ उन्हें यह भी पीड़ा है कि 'घन आए, घनश्याम न आए'।

महादेवी की 'अभिनव राधा' समझने का प्रमाण उनके कई प्रगीत हैं। वे बार-बार अपने से पूछती हैं—"क्या न अब प्रिय की वजैगी मुरलिका मधु राग वाली ? उन्होंने तो यह भी स्वीकारा—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा।
विरह बन आराध्य द्वैत क्या ? कैसी बाधा ॥

पाना खोना हुआ जीत वे हारे ही हैं—
प्रिय पथ के ये शूल मुझे प्रिय, प्यारे ही हैं ।

कभी वे कृष्ण से पूछती हैं कि 'वंशी में क्या अब पांचजन्य गाता है ? तो कभी आवेश में कहती हैं—

'जग ओ मुरली की मतवाली ।
दुर्गम पथ हो ब्रज की गलियाँ ।
शूलों में मधुवन की कलियाँ ।
यमुना हो दृग के जलकण में ।
वंशी ध्वनि उर की कम्पन में ।
जो तू करुणा का मंगल घट ले, बन आवै गोरसवालो ।

यह गीत एक ओर मीरा पर है तो दूसरी ओर परोक्ष में राधा पर भी । वे कृष्ण को उद्‌बुद्ध करती हुई कहती हैं—

'आ रचा जिसने स्वरों में प्यार का संसार ।
गूंजती प्रतिध्वनि उसी की फिर क्षितिज के पार ।
वृन्दा विपिन वाले जाग ।'

और 'वे आए चुपचाप सुनाने तब मधुमय मुरली की तान ।' पंत की छाया तो 'रति श्रांता ब्रज बनिता' है । उन्होंने तो 'निराला' के मान पर 'युग की राधा' ही लिखकर भेजी थी—

पाती पाइ तुम्हारी देहौं वा को न आदर दान ;
देखौं, या युग की राधा को मिटा पाई है मान ॥

छायावादी ही नहीं, उस युग के अन्य कवियों के अर्न्तमानस में भी राधा बराबर विद्यमान रही । 'रास की मुरली' कविता में 'दिनकर' कहते हैं—

आज द्रोही जीवन का पर्व, नग्न उल्लासों का त्यौहार ।
आज केवल भावों का लग्न आज निष्फल सारे श्रृंगार ।

महालय का यह मंगल काल, आज भी लज्जा का व्यवधान ।
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति भेज दो अपने आकुल प्राण ॥

इसी प्रकार 'राही और बांसुरी' में भी उन्होंने कृष्ण की मुरली में 'सुधा और आग' दोनों की कल्पना की है । 'नारी' कविता में तो दिनकर और भी भावाभिभूत होकर कहते हैं—

विकल उर को मुरली में फूंक प्रियक तरु छाया में अभिराम ।
बजाया हमने कितनी बार, तुम्हारा मधुमय राधा नाम ॥

कहीं यमुना से कर तुम स्नान पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल ।
सिक्त कुन्तल से झरते देवि ! पिए हमने सीकर अनमोल ।।

'भारतीय आत्मा' की जबलपुर कारावास में लिखी एक कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

व्याकुलता ही जिसका घर है, अकुलातों का गिरिधर है ।
मेरा वह नटवर है, जो राधा को मुरलीधर है ।।

और इसीलिए उनका अडिग विश्वास रहा कि यदि 'एक माधव न छूटै, तो कराह ही सदा सराह ।' इसी से वे आह्वान करते रहे, वेणु लो गूँजे धरा । मेरे सलोने श्याम, 'क्योंकि मेरे माधव का रूप श्याम घन तेरा ।' धूम्रवलय में वे राधा से पूछते हैं—

राधा तू कहाँ कुंजवन में ।
पगली बैठी वृन्दावन में ।
अपना बलिहार ढूँढ़ती है ।
किसकी अनुंहार ढूँढ़ती है ।

वे पुनः किस कुंज बिहारी पर (वह) बेचारी ठगी गयी—यही नहीं राधा का 'अमर बिराग' निहाल है पिकी भी राधे-राधे बोल रही है । अज्ञेय भी न जाने किससे कहते हैं—'इसी जमुने के किनारे एक दिन मैंने सुनी थी दुःख की गाथा तुम्हारी'। भारती की 'कनुप्रिया' के आधार पर रामेश्वर सिंह ने 'पत्र एक राधा के नाम' लिखा तो राजीव सक्सेना ने 'पुरुष प्रिया' । प्रभात का प्रभास कृष्ण, देवराज का 'राधा एक आत्मालाप' आदि प्रसिद्ध हैं ही । और तो और, अनेक आधुनिक मुसलमान कवियों ने भी रसखान की भाँति राधा पर मुक्तक लिखे हैं । जिनमें अब्दुर्रशीद खाँ रशीद' मुख्य हैं । इन्हें 'आधुनिक रसखान' ही कहा जाता है । डा० जलाल अहमद खाँ 'तनवीर' कहते हैं—'खोज रही हैं मुरलीधर को चारों ओर निगाहें ।' ठाकुर गोपाल शरण सिंह की भाँति इन्होंने घनाक्षरी और सवैयों में अपना 'चित-चोर' खोजा है—

मिली रूप के सिन्धु की थाह नहीं दुर्गों के छवि छोर को पा न सका ।
रहा जीवित घोर अमा की निशा में सुहावने भोर को पा न सका ।।
कट भाग्य की ऐसी पतंग गई, फिर हाथ से डोर को पा न सका ।।
भटका रहा जीवन खोजने में अपने चितचोर को पा न सका ।।

ये कुछ सन्दर्भ इस बात के प्रमाण हैं कि कम या अधिक, किसी न किसी रूप में रास व राधा हमारे इन कवियों की अन्तश्चेतना में प्रेम की अधिष्ठात्री देवी के रूप में विद्यमान रही । हम कुछेक ग्रंथों को लें, पर इसके पूर्व हम 'राधा' शब्द पर भी सप्रसंग थोड़ा विचार कर लें । मेरा आश्रय पौराणिक या इतर साहित्य में राधा के

उल्लेख होने या न होने या कम होने से न होकर उसके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से है। अमर कोष के अनुसार राधा प्रीति, अनुराग-प्रेम आदि के अतिरिक्त कृष्ण की परम प्रेयसी है। श्री जीव गोस्वामी के अनुसार 'जो आराधना करे वही राधा है'—वह रसनीय विषय की सिद्धि है। (वैष्णव तोषिणी टीका) श्री नारद पंचरात्र में वह 'प्रेम पूर्वक आराधना और लीलारस में परिपूर्ण मग्न है। इस प्रकार राधा, आराधना, प्रेम और अनुराग की पूर्ति है और आधुनिक हिन्दी कवियों का राधा-बोध उनकी यही राधा दृष्टि है। प्रिय प्रवास से लेकर देवराज की 'राधा एक आत्मालाप' तक उसका यही स्वरूप उद्घाटित हुआ है। अब हम कुछ ग्रंथों का विवेचन-विश्लेषण करें।

प्रिय प्रवास : हरिऔध

शताब्दियों से अपने ही दुःख में विरह-पीड़ा से कातर—गोकुल के कुंजों—यमुना के कछारों में अपने कन्हैया को खोजती राधा प्रिय प्रवास में पर दुःख पीड़ा से दुःखी हुई है। डा० पुष्पपाल सिंह के अनुसार पुनर्जागरण के युग में राष्ट्र की चेतना में जो नवीन वैचारिकता आयी, उसके परिवर्तन का चित्र प्रिय प्रवास की राधा में है। इस राधा में न तो दर्शन की गूढ़ता है, जो भक्ति युग में व्याप्त थी, न परानुरक्ति की गूँज या रीतिकाल की नायिका का अतिशयोक्तिपूर्ण विरह वर्णन ही। प्रिय प्रवास की राधा नवजागरण काल की भारतीय नारी का प्रतीक है। वह जब अपनी स्वतंत्र अस्मिता खोजती है—तो वह रोकर यमुना का जल और काला नहीं करती। प्रेम से अधिक उसके लिए कर्तव्यपरायणता है—सामाजिक चेतना की यह प्रथम स्फूर्णा 'प्रिय प्रवास' में ही स्पष्ट हुई। लोक सेवा के साथ-साथ कवि यह भी नहीं भूला कि वह कृष्ण की परम प्रेयसी भी थी। 'प्रिय प्रवास' में चतुर्थ सर्ग में राधा के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए हरिऔध कहते हैं—

शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति यों॥

वह स्त्री जाति की 'रत्नोपमा' और 'सुमन प्रसन्न वेदना' है। डॉ. गोविन्द राम शर्मा ने प्रिय-प्रवास की राधा को परम्परा सम्मत न मानकर एक 'विलासिनी रमणी' गिना है। मेरी सम्मति में 'प्रिय प्रवास' की राधा अपने प्रेम और लोकार्पण दोनों ही सहजता के कारण प्राचीन और नवीन भाव धारा का सार्थक समन्वय है। इन्हीं गुणों के कारण वह ब्रज में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। प्रेम और कर्तव्य का यह सामंजस्य 'प्रिय प्रवास' की राधा की सर्वाधिक विशेषता है। वह पवन को दूत बनाकर अपनी दुःख कथा श्याम को सुनाना चाहती है—

'जो चित्रों में विरह त्रिपुरा का मिले चित्र कोई
सो जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना।

प्यारे होके चकित जिससे चित्र की ओर देखें
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ।

× × ×

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला ।
म्लाना होके कमल पत्र को चूमना चाहती है ।।

यही नहीं वह अपनी स्मृति दिलाने के लिए पवन से अनुरोध करती है—

'सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा मे पड़ी हो
तो पावों के निकट उसको श्याम ला गिराना ।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो
मेरा होना अति मलिन ओ, सूखते नित्य जाना ।'
(षष्ट सर्ग)

साथ ही उनका यह दृढ़ संकल्प भी है कि 'आज्ञा भूलूं न प्रियतम की विश्व के काम आउंल, मेरे कौमार्य व्रत को भव में पूर्णता प्राप्त होवे ।' इसी से वह 'वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध रोगी जनों की' और 'दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानती थीं ।' स्पष्ट है कि रत्नाकर के उद्धवशतक, सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमरदूत' कवि किंकर, बिसाहूराम और द्वारिका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' की उस राधा से, जो कुरुक्षेत्र में सूर्य ग्रहण के अवसर पर कृष्ण की बाल लीलाओं का जादू दिखाती है, यह राधा नितान्त भिन्न है ।

द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त

प्रिय प्रवास के उपरान्त 1936 में प्रकाशित 'द्वापर' में मैथिलीशरण गुप्त ने अन्य नारी चरित्रों के साथ-साथ 'राधा' का भी चित्र आँका है । 'द्वापर' का रचना-काल कवि के जीवन का संकल्प-विकल्पपूर्ण समय रहा । अनेक आलोचकों ने द्वापर को उनकी सहज काव्य धारा से प्रथक माना है । प्रारम्भ से ही गुप्तजी अपनी आराध्य सीता के समानान्तर एक दुःखी नारी चरित्र की खोज करते रहे । उर्मिला, यशोधरा, राधा, विष्णुप्रिया, रत्नावली उसी खोज के विभिन्न चरण हैं । इसीलिए 'विष्णुप्रिया' में भी वे राधा के लिए कहते हैं—

'चले गए माधव मुंह मोड़ ।
राधा जा न सकी ब्रज छोड़ ।
कुल छोड़ा ब्रज क्यों न छोड़ती पर था कौन उपाय ?
उनका पीछा कर क्या उनकी हँसी उड़ाती हाय !

(इस पद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा गोपियों पर किये गये आक्षेप का कि बैठे बिठाए निठल्लों का वियोग है, भी उत्तर है)। इस विकास क्रम में द्वापर उनके काव्य प्रवाह का ही एक सहज मोड़ है, उससे पृथक नहीं। कृष्ण से 'द्वापर' की राधा कहती है।

'शरण एक तेरे मैं आयी धरे रहें सब धर्म हरे,
बजा तनिक तू अपनी मुरली नाचें मेरे मर्म हरे।
तुझको एक तुझी को अर्पित राधा के सब कर्म हरे ॥'

वह जानती है कि उसके प्रेम से कृष्ण की क्षुधा नहीं बुझेगी, फिर भी, वह इस अथाह सागर में अपने मानस हंस को मग्न रखना चाहती है। 'द्वापर' के गोपी गीत में राधा का उत्कृष्ट चित्र कवि ने खींचा है। ज्ञान योग से प्रेम वियोग को भला मानने वाली गोपी उद्धव से राधा का प्रणाम कहती है, क्योंकि—

न तो आज कुछ कहती है वह, और न कुछ सुनती है,
अन्तर्यामी ही यह जानें क्या गुनती बुनती है।

गोपियों का कृष्ण से यह तीव्र उपालम्भ है कि—

'राधा हरि बन गयी हाय ! यदि हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव मधुवन से उलटे तुम मधुपुर ही जाते ॥'

सूर के कृष्ण जहाँ राधामय भी होते हैं, वहाँ गुप्तजी के कृष्ण नहीं। कवि हृदय नर से अधिक नारी को समर्पित प्रेम का अधिकारी गिनता है। इसीलिए राधा स्वयं विरह में डूब अपने को कृष्ण समझ कर 'राधे राधे' चिल्लाती है। वह राज हंसिनी मोती चाहती है और उद्धव उसे हीरे चुगाने आये हैं। जिस प्रकार साकेत की 'उर्मिला' लक्ष्मण से अधिक श्रेयस्कर है, जिस प्रकार यशोधरा में 'गोपा के बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं, 'उसी प्रकार कवि को कृष्ण से अधिक राधा प्रिय है। इसी विश्वास के कारण 'राधा जब तक अभागिनी है, कृष्ण मनमानी करते रहे, पर उसमें अहंभाव के आते ही वे 'चरणों में न पड़े तो कहना'। सूर की भाँति कितना आत्मविश्वास है—

हर ले कोई राधा का धन, पर वह भाग उसी का,
कृष्ण उसी का केश पक्ष है, सेंदुर राग उसी का।
यही सृष्टि की तथा प्रलय की उद्धव कथा हमारी,
कितना आनन्द हमारा कितनी व्यथा हमारी ॥

राधा तत्व और भाव को, गौड़ीय वैष्णव भावना के अनुसार, गोपी गीत का अन्तिम पद चरमसीमा पर पहुंचता है। गोपियाँ उद्धव को दिखाती हैं—

लो वह आप आ रही देखो, सखी सखी चिल्लाती।
पर 'उद्धव उद्धव' की ध्वनि भी है यह कैसी आती ?

"यह क्या, यह क्या भ्रम, विभ्रम दर्शन नहीं अधूरे।
एक मूर्ति आधे में राधा, आधे में हरि पूरे।"

जिस अर्द्ध नारीश्वर के परम ऐक्य का मैंने ऊपर उल्लेख किया है—यह उसी का प्रतिरूप है। 'प्रिय प्रवास' और 'द्वापर' की राधा का अन्तर स्वतः स्पष्ट है। गुप्तजी की राधा परम प्रेम रूपा है, उसका ध्रुव केन्द्र। इसी तत्व को वृहत् व नए आयामों के साथ धर्मवीर भारती ने 'कनुप्रिया' में बढ़ाया है।

कनुप्रिया : धर्मवीर भारती

भारती की कनुप्रिया एक बहुचर्चित कृति है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इसका प्रभाव पारवर्ती कवियों पर भी पड़ा। कनुप्रिया में भारती ने परम्परागत राधा को आधुनिक परिवेश में देखा है। प्रारम्भ में ही कवि ने स्पष्ट किया है—'यह सब बाहर का जो उद्वेग है, महत्व उसका नहीं है—महत्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण—जहाँ समस्त वाह्य अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमट कर उस क्षण में पुंजीभूत हो जाता है। कवि ने 'कनुप्रिया' की कथा को तीन चरणों में विभाजित किया है : प्रथम चरण है—पूर्व राग और मंजरी परिणय, द्वितीय है सृष्टि संकल्प और तृतीय है महाभारत काल से युद्ध के अन्त तक। इस प्रकार कनुप्रिया राधा के जीवन का एक पूर्ण वृत्त है—'आधुनिक युग की संवेदना' से संपृक्त (बर्ल्व) आलोचकों ने कनुप्रिया की इस भावानुकूल तन्मयता में सनातन नारी का स्वरूप पाया है। (पुष्पपाल सिंह) दूसरी ओर आलोचकों ने कनुप्रिया पर यह दोष भी लगाया है कि कवि परम्परागत रूप और आधुनिक परिवेश में संगति और सामंजस्य नहीं बिठा सका, इसलिए पाठक का मन उससे तादात्म्य नहीं कर पाता। पूर्व राग में राधा पूछती है—'सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत। तुम कब मुझमें छिपे सो रहे थे।' वह अपने कनु को 'सम्पूर्ण' का लोभी बताकर कहती है—

"कैसे हो जी तुम,
जब मैं जाना ही नहीं चाहती,
तो बाँसुरी के एक गहरे अलाप से,
मन्दोन्मत्त मुझे खींच बुलाते हो।
और जब मैं वापस नहीं आना चाहती
तब मुझे अंशतः ग्रहण कर सम्पूर्ण लौटा देते हो।"

'मंजरी परिणय' में वह जीवन के मादक अभिसारों का सहज स्मरण करती है। जब वह नहीं गयी तब कान्ह कितने उदास और मौन आम्र वृक्ष के नीचे बैठे थे। 'पर वह नहीं आयी, नहीं आयी।' कैसी विचित्रता है। पनघट भरे घड़े में आँखों की मछली समझ कर पानी ढुलका देती है। वह कभी नहीं जान पायी कि कृष्ण

उसका कौन था ? भारती पर जयदेव के 'गीत गोविन्द' और सूर के उस पद की भी स्पष्ट छाप है जब घनघोर वादलों और धुंधले पथ में वह उसे गाँव की सीमा पर छोड़ आयी थी । अपने अंचल में छिपाकर । सृष्टि सकल्प में राधा अपने को समस्त सृष्टि का केन्द्र गिनतो है—

'ओ मेरे स्रष्टा,
तुम्हारे सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है
मात्र तुम्हारी सृष्टि
तुम्हारी सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है
मात्र तुम्हारी इच्छा,
और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ हूँ
केवल मैं, केवल मैं, केवल मैं ।

पर उसे न तो इस यात्रा का आदि स्मरण है और न अन्त ही ज्ञात । ग्रंथ के तृतीय खण्ड 'इतिहास' में वह विप्रलब्धा अपने को 'काँपती प्रत्यंचा' कहती है और समझती है अपने को लीला भूमि ओर कुरुक्षेत्र के अलंघ्य अंतराल का एक सेतु । फिर भी उसे कनु पर गर्व होता है—वह स्वयं को अर्जुन समझती है—मोह-ग्रस्त—और कृष्ण के ज्ञान कोष के असंख्य शव्दों का अर्थ भी 'अपने' को ही गिनती है । तव भी उसका कृष्ण से उपालम्भ है—

'सखी को तुमने बाँहों में गूँथा,
पर उसे इतिहास में गूँथने से क्यों हिचक गये प्रभु ?

शेक्सपियर की जूलियट की भाँति वह बुझी हुई राख, टूटा हुआ गीत और डूबा हुआ चांद है ।

लगता है राधा आज भी उसी अशोक वृक्ष के नीचे खड़ी है इस गर्व के साथ कि अठारह अक्षोहिणी सेना का नायक उसका 'महानप्रिय' निरीह एकाकी और आकुल कृष्ण उसके भूले हुए आंचल की छाया में विश्राम पाने एक न एक दिन अवश्य लौटेगा । यह प्रतीक्षा अनवरत है और सम्भवतः वह आज भी क्वारी मांग से मोह भंग की दुराशा में थके-मांदे कृष्ण की वाट जोहती होगी । इस प्रकार भारती की कनुप्रिया में जहाँ विलास का वैभव अतीत की स्मृति के साथ घनीभूत हो उठा है, वहाँ वर्तमान की सारी आकुलता तन्मयता, आत्मबोध की उस स्थिति पर पहुँच जाती है, जहाँ नारी अपनी समस्त उपेक्षाओं के बावजूद अपनी अतृप्ति में भी जीवन की अर्थवान मानवीय पूर्णता, इयता व अस्मिता प्राप्त करती है—

'उसकी भाव जिज्ञासा कि
तुम्हारे महान बनने में ।'

क्या मेरा कुछ टूट कर बिखर गया है कनु ? यही कनुप्रिया की विशेषता है ।

डॉ. केसरी कुमार कनुप्रिया को राधा की 'देह-गाथा' मानते हुए कहते हैं कि अंधा युग और कनुप्रिया में कवि ने 'एक में व्यापक सत्य को निजी तौर पर और दूसरी रचना (कनुप्रिया) में निजी सत्य को व्यापक स्तर पर उपलब्ध करने की कोशिश की है। पर वह 'गुनाहों की देवी' भी बन गई है—उसके तीन गुनाह हैं—परिवेश की विस्मृति, काल के आयाम की उपेक्षा और मोहन रूमानी अतिवाद। मैं इन आक्षेपों को स्वीकार नहीं करता क्योंकि कनु की प्रिया देह गाथा के माध्यम से अपनी तल्लीनता या लवलीनता में परिवेश की स्मृति से शून्य होकर चौथे आयाम अर्थात् काल खण्ड में न डूबकर भी उसके समग्र और खण्डहीन प्रवाह को स्वीकार करती है।

राधा : जानकी बल्लभ शास्त्री

कनुप्रिया के पश्चात श्री जानकी बल्लभ शास्त्री की 'राधा' प्रकाशक के अनुसार नयी संवेदना के क्रम में भाषा की आवेगमयी मांसलता और तन्मयीकरणात्मक शक्ति की आन्तरिकता का प्रमाण है। सन् 1971 में प्रकाशित 'राधा' के सम्बन्ध में कवि की मान्यता है कि "उसकी साधना और साध ने उसमें एक आकृति" पाई है, जो देश-काल की कल्पित बाधा पार कर 'राधा' का गहन मन वन गई है। विभिन्न छन्दों में गुंथे हुए इसके सात पर्व संगीतात्मकता से संपुष्ट होकर प्राचीन काव्य—लीला पद्म, गोविन्द गान, आदि से प्रभिावत हैं। इस काव्य का प्रथम पद ही इसकी रचना का मूल केन्द्र है। 'यह राधा बावरी बीन की अनमिल धुन पर जीवन हारने वाली हिरनी' की कहानी है। आलोचको ने उसे एक गीति प्रबन्ध कहा है—"उस द्वन्द्व देही महा भाव का प्रतीक, जो कवि के निर्वेदपूर्ण मानस की रचना भूमि है" (केसरी कुमार) उसका एक मन भवन में है तो दूसरा मधुवन में। उसे आज भी इस प्रश्न का समाधान करना है—

"नीली री मुरली । तूने मुझे पुकारा ?
क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा ।"

राधा यहीं से तन का नाता तोड़कर मन को कृष्ण के पास भेजती है। कृष्ण का अप्रतिम सौन्दर्य उसे अभिभूत करता है—

आधा आधार अधूरी सी परछाई,
था निरमन अन्तर्नयन कौन छवि छाई ।

सम्पूर्ण कृति राधा के प्रेमोन्माद के चित्रों से भरी पड़ी है। इस काव्य में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को कृष्ण से बाँधती है—उसके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं कि वह परकीया है या स्वकीया।

तू गाल बजा बैताल न कोई बाधा ।
लांघे जो कुछ मर्यादा कहाए राधा ॥

× × ×

तुम जिसे तोड़ डालो हल्के झटके से
उस रश्मि-बन्ध में तिमिर फिरे अटके से
मेरे सौ-सौ जन्मों के संस्कारी क्षण,
चेतना-सिन्धु में कहाँ अचेतन के क्षण ।।

राधा जानती है कि वह पूर्ण समर्पिता है पर कृष्ण ? क्या वे भी ? नहीं,

जैसे मैं हुई तुम्हारी, तुम क्या मेरे ?
घिरता सागर क्या एक लहर के घेरे ?

वह तो केवल एक हिलोर है—लहर, जिसमें सागर कब बँधा । इस काव्य का अन्त आत्मिक विलय के साथ दार्शनिक धरातल पर होता है—पंच भूतात्मक सृष्टि से ऊपर उठकर राधा बेखरी से मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणी की भूमिका पर पहुँचती है—कालातीत, शब्दातीत की स्थिति में । जानकी वल्लभ शास्त्री की राधा प्रिय प्रवास, द्वापर व कनुप्रिया से मूलत: भिन्न है—यह भिन्नता उसकी गहन आंतरिक अनुभूति में है, जो प्रणय से प्रारम्भ होकर दिव्य प्रेम की सर्वोच्च स्थिति का चयन करती है, या करना चाहती है । छायावादी काव्य-चेतना के प्रवाह में, वह रहस्यात्मक अनुभूति का भी चित्र बनती है—कामायनी और उर्वशी की शृंखला में कामाध्यात्म का । यही उसकी "मन गाथा का वैरागी उपसंहार" है । वह किससे विद्रोह करे ? युग से या जगत से ? कृष्णपक्ष से ? या चन्द्र से ? कहती है—

मेरा तो जन्म हुआ पीड़ा के डर में
कब हँसी मिलोकर सुर फूलों के सुर में
रोई थी निस्सवेदन मन के वन में
क्रन्दन की नीरवता गूँजी जीवन में ।

राधा : एक आत्मालाप : डा० देवराज

इसके पहले हम उन कविताओं को लें जिनमें कृष्ण के माध्यम से राधा का चरित्रांकन हुआ है, डा० देवराज की राधा : एक आत्मालाप पर भी दृष्टिपात कर लें । डा० देवराज ने "राधा का चारित्रिक वैशिष्ट्य मानववादी भूमिका पर चित्रित किया है । उसके शब्दों में "राधा के प्रसंग में कृष्ण के ईश्वरत्व का उल्लेख, विशुद्ध मानवीय जीवन स्थिति के आकलन की दृष्टि से, अनपेक्षित ही नहीं अग्राह्य है और इस दृष्टि से उनकी राय में कनुप्रिया के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विसंगति है । उनकी राधा की "आहत आत्मा" सोचती है ।

और वह विद्युत छटा सा, श्याम घन का हास,
मुरली का मधुर संगीत,
बेध तन के तन्तुओं को प्राण में पैठे
करते संतुलन क्यों भंग ?

उसे आश्चर्य है कि समर्पण पूर्वमन की शासिका, राज्ञी, वह प्रिय की चिर उपेक्षा का पात्र कैसे बन गई ? चाहकर भी वह अपने अतीत को नहीं भूल पाती—वह अतीत, जिसका अब कोई चिन्ह् अवशेष नहीं है—वह क्यों आज भी स्मृति को घेर रहा है, और आगत का प्रतिक्षण कैसा दुर्भर है । कैसी विसंगति है यह—

एक मैं जिसको सताती-सालती रहती
क्षणों की क्षुद्रतम यादें,
एक वे भूलें, जिन्हें शत बार दुहराये
थिर ध्रुवनीति के बाद !
× × ×
व्यस्त जीवन, रूठने मनने मनाने का
अब होगा कहाँ अवकाश ?
वेणु स्वर में दे निमन्त्रण राह तकने का,
होगा इष्ट क्यों आयास ?

इस राधा के मन में सत्यभामा, कुब्जा, रुक्मिणी के प्रति डाह है । इस सारे ऊहापोह में वह "राधा वृत्ति" खोजती है और उन सखियों का साधुवाद करती है, जो श्याम को अब भूल गईं । यहीं उसकी भावधार मोड़ लेती है और वह अपने गोपाल को कंस, शिशुपाल, जरासध, शकुनि जैसे आततायियों के मध्य संकटग्रस्त पाती है । इस प्रकार 'राधा का आत्मालाप' अपने अतीत और वर्तमान के बीच गहरी विषमता पाता है—वह कृष्ण के प्रति आशंकित है—पर चिन्तित भी । इस प्रकार उसकी आत्मा का आहत स्वर—उसकी खण्डित चेतना—उसके अतीत और वर्तमान का वैषम्य और क्लेश कहीं नहीं सहज नारी दौर्वल्य के साथ रूपायित हुआ है । कविता के अन्तिम अंश में वह आत्म-सन्तोष का सहारा लेती हुई कहती है—

रात ठंडी, चित्त ठंडा,
पड़ रहा ठंडा जीने का सकल उत्साह,
कब ढलेगी रात, काली और आयेगी,
जीवन में नई द्युति भोर ।

पर,..........यहीं कितना बड़ा और कठोर प्रश्नवाचक चिन्ह् लगा है—यहीं क्यों ? राधा के समस्त जीवन के आगे ही तो 'राधा का आत्मालाप' में मनोवैज्ञानिक स्तर पर नारीत्व का आहत स्वर, उसका ग्रसित चैतन्य, द्विधापरक व्यक्तित्व के साथ उभरा है—सारे क्लेश और अनुताप को लेकर । उसे यह भी विश्वास है कि जीवन की सांध्य बेला में ही सही कृष्ण याद तो करेंगे ।

अभी तक हमने उन ग्रन्थों को देखा, जिनमें राधा का ही चरित्र प्रत्यक्षत: चित्रित हुआ है । अब हम उन पर भी विचार कर लें, जिनमें श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को माध्यम बनाकर राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन कवियों ने किया है ।

प्रभास कृष्ण—केदारनाथ मिश्र प्रभात

केदारनाथ मिश्र द्वारा 1963 में रचित प्रभास कृष्ण एक चिन्तन प्रधान उदात्त काव्य है, जिसमें श्रीकृष्ण के मानसिक चिन्तन का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। जीवन की सांध्य बेला में श्रीकृष्ण सोचते हैं—

शेष अब कुछ भी नहीं,
गृह विहीन बंधु विहीन मैं
बैठा अकेला—देखते ही देखते उठ गया मेला।

यहीं उन्हें आराधना के पत्र पर उत्सर्ग की लिपि में उतरी वंदना की प्रथम रूप हिलोर राधा का सहज स्मरण होता है—एक ऐसा नाम, एक ऐसी संज्ञा जो अपने चिर तारुण्य में चिच्छक्ति है—महाज्योतिष्मती—नित्य नूतन। पर वही आज कितनी दूर—कितनी परे। यहीं श्रीकृष्ण सोचते हैं कि राधा तरु की छाँह में साधना बनकर अकेली बैठी होगी। आज भी राधा उनके लिए अक्षय आनन्द का स्रोत है—परम रस का। उन्हें मिलन के क्षण याद आते हैं : वह प्रथम आलिंगन :

श्रेय प्रेय
स्वरूप की अनुभूति का !
वह रूप से अन्तः पुरुष की बात,
अन्तः पुरुष से आत्म रति का मौन।

कवि यहाँ अध्यात्म के धरातल पर उतर जाता है और राधा कृष्ण के लिए "प्रणव" की मूर्ति बन जाती है। जीवन के सभी प्रसंगों में चाहे द्रौपदी स्वयंवर हो या चीरहरण, वे मथुरा में भी राधा की आँखों में गोकुल का आकाश देखते हैं। भारतीय युद्ध के समय भी उन्हें राधा दीखती रहती है—

मैं सोचता हूँ मन में कि
उल्का पिंड बनकर लोक संवर्तक
जला दूँ सृष्टि को
तब अचानक प्रकट होती
नव तुषाराभा लिए राधा
मुझे भुज बंधनों में बाँधकर
अमृत बरसा रही है।

इस प्रकार रासेश्वरी कुरुक्षेत्र में वृन्दावन की छवि लेकर आ पहुँची—कुरुक्षेत्र में भी वे रास नृत्य देखते हैं—तो कभी छिन्नमस्ता और बगला का नृत्य भी। कालिय वध की कल्पना करते हुए कहते हैं—

नाच रहा था मैं, मेरी आँखों में राधा।
राधा की आँखों में चम-चम सारा ब्रजमंडल ।।

प्रभास क्षेत्र में कृष्ण के सम्मुख जीवन का सारा अतीत राधामय हो उठता है—कवि ने इस अगाध प्रेम में अध्यात्म का रंग भी उड़ेला है। जहाँ राधा गोकुल में बैठी अपने अतीत का स्मरण करती है—वहाँ श्रीकृष्ण मथुरा, द्वारिका, कुरुक्षेत्र—जीवन के सभी प्रसंगों में उसे कभी विस्मृत नहीं करते। प्रभास कृष्ण की इन स्मृतियों को देखकर टी० एस० इलियट की ये पंक्तियाँ मन में उभर आती हैं—

Time Past and Time Present
are both perhaps in Time Future
and Time Future contained in Time Past.

हरिऔध की भाँति प्रभात ने भी राधा को राष्ट्रीय भाव धारा से जोड़कर सर्वोदयी शाश्वत सृजन या लोक सेवा से जोड़ा है। 'प्रभास कृष्ण' का यह अन्त विचित्र होकर मूल भावधारा से कट जाता है, जब कृष्ण यशोदा की गोद में सोने का उपक्रम कर लोरियाँ सुनते हैं। उसके मार्मिक उद्गार मग्न रागिनी बनकर एक समग्र सांगीतक प्रभाव नहीं छोड़ पाते फिर भी इसमें रचनात्मक उत्कर्ष स्पष्ट है।

पत्र एक राधा के नाम : डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह

धर्मवीर भारती की कनुप्रिया से प्रभावित डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह ने "पत्र एक राधा के नाम' लिखा। आठ वर्षों के दीर्घ काल में रचित यह ग्रन्थ भारती को ही समर्पित है। कवि ने इस कृति को "आत्मा का झरोखा" कहा है, जिसमें कृष्ण का आत्मबोध ही प्रमुख है। कनुप्रिया में कनु की प्रिया थी, तो यह प्रिया का कनु है। प्रभास कृष्ण में कृष्ण जीवन के अन्तिम समय में अपने अतीत का घनीभूत स्मरण करते हैं, तो इसमें वे वर्तमान के विराटत्व के मोह से छूटने की प्रक्रिया में हैं। यही कारण है कि अनेक स्थानों पर आत्म-संबोधन वे करते हुए कहते हैं—आज यह कैसी उत्कंठा जग रही है? उन्हें याद आते हैं—कचनार, कुब्जका प्रियाल के एकान्त में राधा से प्रथम मिलन और फिर एक दूसरे के लिए स्वप्न बनने के क्षण—वे अंधेरे दिन। मथुरा गमन के समय राधा से एक शब्द भी न कह सकते कि उन्हें कसक है। कृष्ण जानते हैं कि गोकुल के तमाल राधा पर व्यंग्य करते होंगे। वे कहते हैं—

मैंने इनका जो इतिहास बनाया,
उसमें अपने को कितना जोड़ पाया।

ऐसा लगता है कि अपने इस पत्र में कृष्ण आत्म-विमुख लगते हैं—वे यमुना के कक्षार—कुंज सबको छली कहते हैं—और फिर—

मुझ में एक सचाई जननी है
कि मेरे तन मन में एक राधा जनम पाये

कि मेरे तन-मन में एक कनु जनम आए
कि मेरे तन-मन की राधा से
मेरे तन-मन का कनु प्रीत जोड़ ले—
छिपे, हंसे और रुलाए।

वे राधा को उपालम्भ देते हैं कि वह मथुरा क्यों नहीं आयी ? क्या वह बहुत दूर थी या यमुना ही गहरी हो गयी थी। वह यह जानना चाहते हैं कि उसने उन्हें क्यों अस्वीकारा ? वे एकान्त में भ्रमित होते हैं—क्योंकि यह 'एक का अन्त' है—क्योंकि राधन् के बिना शब्द केवल शब्द है, अर्थहीन, भावहीन, तात्पर्यहीन। वे उसे अपने केन्द्र और परिधि का प्रतीक बनाते हैं—प्रत्येक वृत्त केन्द्र और परिधि के बीच के अंतराल को वृहत् करता है—पर केन्द्र को नयी भूमिका व सार्थकता भी देता है। और इसी से तेरे कनु का हर क्रिया-कलाप एक परिधि है। कृष्ण का सारा का सारा वेश राधामय है और इसी से वे 'विराट नट' हैं—वे उन्मुक्त भाव से अपना वर्तमान अस्वीकारते हैं—स्वीकारते हैं कि महाभारत का हर प्रसंग (प्रभास कृष्ण की भाँति) राधा की याद था—

"सम्पूर्ण भारत युद्ध में पल-पल छिन्न-छिन्न
मैं हारता रहा—टूटता रहा—जलता रहा
और आज हारे हुए दर्पण—टूटे हुए सपने
जले हुए तन और भविष्यहीन जीवन-सा मैं हूँ—
निष्ज्योति अग्निशिखा सा।"

कृष्ण सम्पूर्ण महाभारत राधा के अभाव में टूटते रहे, उनकी विजय कहाँ हुई ? दूसरों को विजय दिलाने वाले स्वयं हार गये। उनके स्वप्न टूट गये। तन जल गया और भविष्य छिन्न विछिन्न क्योंकि राधा उनमे कितनी दूर चली गई। यहाँ कृष्ण मानवीय प्रेम के मूर्तरूप हैं। मृत्यु के अन्तिम क्षणों में भी वे राधा को नहीं भूलते—उन्हें याद आता है—शैशव, और आज अश्वत्थ के निष्पत्र वृक्ष के नीचे वियोग का तीर उनके तलवे को वेध गया है—'वे अतनु हैं अब—प्राण सर्वस्व—द्वापर के शब्द और अर्थ। कवि ने 'पत्र एक राधा के नाम' में कृष्ण को उसी धरातल पर चित्रित किया है, जिस पर अन्य कवियों ने राधा को। इस 'पत्र' में सूर का प्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट लगता है।

पुरुष प्रिया : राजीव सक्सेना

अब हम आधुनिक कवि राजीव सक्सेना के 'पुरुष प्रिया' को देखें। यह भी भारती के कनुप्रिया के प्रभाव रचित है—पर इसमें आधुनिकता का पुट स्पष्ट है। राधा सोलहवें वर्ष की वसन्त बयार का स्मरण करती है, जब साँसों की वंशी में उसका अस्तित्व सफल हो जाता था और वेणु स्वर हर रोज रंध्र बन जाता था। गीता ज्ञान देने वाले, पांचजन्य फूंकने वाले अपने प्रिय को राधा उपालम्ब देती है—

'नारी की निष्ठा है सहज, नयना भाषा है पर्याप्त
तुम्हारी ज्ञान गीता को यहाँ
कहाँ मिलता संशय !

क्योंकि गोकुल तो विकल्पहीन संशय मुक्त प्रेम की पवित्र सांकल्पिक भूमि है और राधा उसका संकल्प । इसी से—

विराट लोक जीवन पर बार दिए पार्थिव स्वार्थ
सारथी, मोड़ दीं काल की वल्गाएँ
अवध्य इतिहास की अव्यय देह धारण कर
तुम बने अजर अमर············
धर्म संस्थापनार्थाय युगे युगे

राजीव की राधा, रवीन्द्रनाथ की उर्वशी की भाँति नारी नहीं है, वह पुरुष प्रिया है, और उसकी व्यथा दिवसावसान के साथ सो जाती है । उसमें वह आत्म-गौरव है 'वंचना नहीं हूँ मैं, दायित्व के पंथ की' और इसी से वह करुणा की याचना नहीं करती । उसकी आस्था है 'तुम्हारी प्रसिद्ध प्रिय, मेरी ही सिद्धि है । यह राधा केवल दर्पण है श्रीकृष्ण के अशेष गौरव का, वह मात्र अर्पण है—उस वंदनीय का नैवेध्य—कृष्ण की महानता का बिम्ब क्योंकि 'मैं हूँ ही कहाँ, हाँ, तुमही तुम हो ।' अपने अवतारी पुरुष 'संभवामि युगे युगे' के लिए वह चिर-प्रिया है । अपनी असंख्य प्रीति से सदैव उस पर न्यौछावर होगी, उस पुरुषार्थ पर । एक और राधा की यह कसक है कि करुणा की इस मूर्ति को आज का समाज क्यों वृथा याद करता है । भारती की राधा की भाँति वह अतीत के व्यामोह में नहीं जीती, वरन्, चिर पुरुष की सनातन संगिनी बनकर, समर्पिता हो—अपनी साधना का नवीन उपक्रम प्रस्तुत करती है—आत्म-गौरव और नारीत्व के पूर्ण बोध के साथ । कनुप्रिया की राधा केवल प्रिया है—प्रेम की समग्रता तो राजीव की पुरुष प्रिया श्रेय की पूर्णता । राजीव सक्सेना ने राधा कृष्ण नहीं, पुरुष प्रिया को देखा, उसके गीत उनके कवि हृदय में गूँजे । राधा यहाँ अर्जुन की भाँति मोहग्रस्त नहीं अपितु है संकल्पित प्रेयसी । वह सनातन पुरुष प्रिया है ।

अन्य ग्रंथ

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ और भी गंथ हैं, जो राधा-कृष्ण के प्रेम, विरह और एकात्म को लेकर लिखे गये हैं । श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह का 'राधा कृष्ण' (1953) इनमें मुख्य हैं । इस ग्रंथ की भूमिका मैथिलीशरण गुप्त ने लिखी थी । इस ग्रंथ में रात्रि का चित्र खींचते हुए कवि ने राधा के विरह का वर्णन किया है । राधा बाँसुरी की स्वर लहरी की प्रथम पुलक को याद करती है, पर वह सब

स्वप्न हो गया। कृष्ण बालापन में त्याग कर गए, अब तरुणाई में आ गये हैं। वह कहती है—'उसे राजपद ही लेना था तो क्यों मुझे बुलाया'—मुझे अर्थात् 'अपढ़, अबोध, तर्कहीन ब्रजबाला को।' उसे मथुरा की नागरी युवतियों से ईर्ष्या है। वायु, धन, कोयल, कपोत सबसे वह संदेशा भेजती है पर उसकी प्रेमपाती का कोई उत्तर नहीं। साकेत की उर्मिला के प्रभाव में वह 'विरह गीत' भी गाती है। अन्त में कृष्ण भी ब्रज को याद करते हैं। ले देकर परिपाटी पर लिखा गया यह एक सामान्य काव्य है। उदयशंकर भट्ट ने भी राधा पर एक भाव-नाट्य लिखा, जिस में राधा, प्रेम, रूप, भक्ति, श्रद्धा व विश्वास का सम्मिश्रण होकर नारीत्व का प्रतीक है और श्रीकृष्ण अविवर्चनीय रस-स्रष्टाः। इस भाव नाट्य में राधा की सखी विशाखा भी है—और नारद भी। विशुद्ध छायावादी काव्य-शैली में लिखा यह भाव-नाट्य राधा के पारस्परिक प्रेम का द्योतक है। नाटककार के अनुसार उसमें यौवन के वासनाहीन प्रेम का चित्रण है—श्रीकृष्ण प्रेम और सौन्दर्य के प्रतीक हैं और नारद भक्ति के अहंकार के। मानवीय प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप की सर्जना ही इस भाव नाट्य का उद्देश्य है। प्रारम्भ में ही राधा सखी विशाखा से कहती हैं।

> क्या हुआ मैं मग्न सी अपनी लहर में,
> पर न जाने दृष्टि पथ में आ गए वे, क्या कहूँ री !
> बज्र कीलित से हुए उत्कीर्ण मेरे हृदय में।

वह कृष्ण के प्रति अपने दुर्निवार आकर्षण का उल्लेख करके पूछती है—

> सच कहना हे कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो,
> इन्द्र के अवतार हो या काम काम प्रपंच हो प्रिय ?

तृतीय दृश्य में कृष्ण मथुरा जाते हैं—पर यहाँ मथुरा गमन में उनमें भावानुकूलता विछोह की पीड़ा है ही नहीं। वे कहते हैं—और 'यह क्या ले बैठी, प्रेम झंझट राधिके। तुम !' वे अपने राष्ट्रीय दायित्व को प्रधानता देते हैं। अन्तिम दृश्य (चतुर्थ) में अक्रूर के स्थान पर नारद जाते हैं—पर अन्त वही, जो अक्रूर के प्रसंग में था। राधा का प्रेम उनकी भक्ति का अहं तोड़ देता है।

> "राधिके, उनके हृदय की श्वास भाषा कल्पना तुम,
> कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधा कृष्णमय है।"

डॉ. प्रभा खेतान की 'कृष्णधर्मा मैं' और सुनीता जैन की 'रंगरति' का भी उल्लेख अपेक्षित है। डॉ. खेतान का ग्रंथ मूर्त से अमूर्त की यात्रा है। तरल बिम्बों के माध्यम से कवयित्री ने राधा के चेतन-अचेतन मन की ग्रंथियों का चित्रण किया है। वह पूछती है—'तुम कौन कृष्ण और मैं कौन। तुम्हारी विराट चेतना और

मेरी व्यक्ति चेतना। इतिहास तो हमारे साझे का क्षेत्र है। वह लीलामय से अपनी नियति का सत्य स्वीकार करने का आग्रह करती है पर पुनः जीवन की परिताप भरी संध्या में वह कहती है—'ओ कृष्ण ! मुझे राह दिखाओ।' युद्धरत श्रीकृष्ण उसे अपेक्षित नहीं वह वेणी को मानव रक्त से नहीं बाँधना चाहती।' 'कृष्णधर्मा मैं' एक ऐसा काव्य है, जिसमें अनुभूति की पहचान कवयित्री ने राधा ने नारीत्व की समग्रता में की है—यही उसके वैयक्तिक अनुभव का क्षेत्र है और पूरी रचना में कृष्ण की साझेदारी। यत्र-तत्र राधा के मन में कुरुक्षेत्र की रक्तरंजित भूमि विघटन पैदा करती है। इस काव्य में अनुभूति की निकटता से राधा के व्यक्तित्व में नयी सौन्दर्य चेतना उभरी है जिसे कलाक्षेत्र में सौन्दर्य बोध की आंतरिकता कहते हैं। राधा के चारित्रिक विकास का नया पहलू है, सुनीता जैन की रंगरति। डॉ. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार राधा कृष्ण के अव्यय प्रणय व्यापार की तरह-तरह भंगिमाओं की आधुनिक उद्भावनाओं का विन्यास है—अच्युत आसक्ति का आधुनिक मुहावरा। श्रीमती जैन के इन गीतों में मांसलता के साथ-साथ नारी हृदय की सहज प्रेम-भावना उद्घाटित हुई है। यह सहजता केवल मूर्त व्यापार या दैहिक धरातल तक ही सीमित न होकर जीवन की अस्मिता की खोज बन जाती है। राधा कहती है—

मुझको केवल यह वतला दो,
कितने जन्म के बाद, कहाँ अब,
किस विधि तुमको पाऊँगी।

उसकी गणित में अब पखवाड़े, वर्ष नहीं हैं, हैं जन्मों क आँकड़े—जन्म-जन्म का यह अन्तर—यह विछोह राधा की कसक को गहराई देकर सार्थक बन जाता है। इतना होते हुए भी रंगरति की राधा में कहीं-कहीं देहासक्ति भी स्पष्ट हो गई हैं। वह देह-भूमि को स्वीकार करके ही प्रेय की मानस भूमि तक पहुँचने का प्रयास करती है। रंगरति की भाषा में भावोद्दीपन के लिए कवयित्री ने ब्रज भाषा के शब्दों और मुहावरों का भो प्रयोग किया है जिससे भाषिक संवेदना और पुष्ट हो गई।

यह है आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा का रूप। कुछ आलोचकों ने इस समूचे काव्य पर सूरदास की स्पष्ट छाप पायी है। डॉ. केसरी कुमार ने सूर के पदों का उद्धरण देकर यह प्रतिपादित करना चाहा है कि सूर की लोक मानसी राधा ही परोक्ष रूप में आधुनिक चरित्र बनी है। उनकी तो यह भी मान्यता है कि कामायनी की श्रद्धा भी एक सीमा तक सूर की राधा का ही परिवर्तित और परिकल्पित रूप है। सूर की राधा, उसकी ऐकान्तिक 'प्रेम साधना, विरहजन्य आकुलता नारीत्व की महनीय गरिमा से पूर्ण है। बाल्यकाल से लेकर कुरुक्षेत्र के सूर्यग्रहण के मिलन तक वह सबको अपने से बाँधे रखती है—कृष्णमय करती है। सूर की राधा

बेजोड़ है, जिस प्रकार वह चित्र उगी सी रहकर 'करत कछु नाहीं आजु बनी' कहती है और वही सूर के पाठक की भी दशा हो जाती है। नलिनीविलोचन शर्मा ने सूर की इसी राधा को अपनाकर 'बरसाने की राधा' कहानी भी लिखी। इसी विकास क्रम में हम आधुनिक परिवेश और भाव-बोध से जुड़ी राधा का आधुनिक रूप पाते हैं। एक सीमा तक यह सही है कि सूर की वह 'निर्मल नारि' युगों के अनुभवों और विभ्रमों से गुजरती हुई, आज ऐसी प्रेयसि बन गई है, जिसका जीवन देह के पास जाता है और जिसकी नियति का अनुशीलन किसी भी मन को निर्मल करता है—जो एक ओर नारी की सहज कोमल विदग्धता, प्रेम की सरस और मधुर पीड़ा को लेकर अवतरित हुई है तो दूसरी ओर भारतीय नवजागरण की नारी-मुक्ति भावना का प्रतीक भी बनकर पूर्व में उसकी यह मूल संवेदना या तो रहस्यावृत्त थी या दार्शनिक प्रतिपत्तियों से बोझिल या पुरुषत्व के मिथ्या अहं से ग्रसित। जैसा हम देख चुके हैं, राधा ही नहीं पौराणिक और ऐतिहासिक युग के उन नारी चरित्रों को आधुनिक युग में, चाहे वह द्विवेदी युग हो, चाहे छायावाद या छायावादोत्तर—आधुनिक कवि मानस ने अपने काव्य में स्थान दिया है—नूतन अर्थवत्ता के साथ मानवोचित न्याय, विवेक और अपेक्षा से पूर्ण (सीता, कैकेयी, उर्मिला, मांडवी, अहिल्या, शबरी, सुलोचना, कुब्जा, द्रौपदी, गांधारी, उर्वशी, रति, सौरन्ध्री, सुवर्णा, श्रद्धा, शैव्या या कोई भी हो) और यह मानव इतिहास का, अन्तः बाह्य जीवन के घोर संघर्ष का, उसकी जय-पराजय और नियति की कठोर क्रीड़ा का दस्तावेज है। जिन कलाकारों ने इस आंतरिक सत्य का वृहत्तर मूल्यों के साथ साक्षात्कार किया है, उन्होंने मानव के प्राण-प्रवाह की सत्वरता और गत्वरता देखी, पहचानी और परखी है और जीवन के उन अभिशापों को अपनी अनुभूति में उतारा है, जिन्हें युगों से नारी झेलती और सहती आई है। कवि की इसी सृजन शक्ति ने राधा के नारीत्व, उसके प्रेम, समर्पण, त्याग और उपेक्षामय जीवन को सार्थक गिनकर एक मिथक के रूप में स्वीकारा है। मैं इस काव्योन्मेष को नयी और स्पृहणीय क्षमता गिनता हूँ और इस नवीन सर्जना को रूमानी देहोपासना नहीं मानता। देह इसका अथ है पर इति नहीं। राधा के जीवन और चरित्र पर शेक्सपियर का यह कथन कि 'दुर्बलता तुम्हारा ही नाम नारीत्व है' संगत नहीं बैठता। उस पर तो सटीक बैठता है न्यूमैन का कथन—'यदि तुम्हारी आत्मा उच्चतर आनन्द की अनुभूति प्राप्त करना चाहती है तो उसे नारीत्व प्राप्त करना होगा, चाहे वह कितनी ही पौरुषमय क्यों न हो। राधा, उसका प्रेम—उसका नारीत्व इसी सत्य का प्रामाणिक साक्ष्य है।

3

कामायनी : एक सिंहावलोकन

आलोचकों की यह धारणा है कि श्रीरामचरितमानस के उपरान्त कामायनी ही एक ऐसा युग प्रवर्तक काव्य है, जिसमें मानवीय उच्चता स्थायी मूल्यों के साथ प्रतिपादित हुई है। उसे एक ओर 'छायावाद का उपनिषद' कहा जाता है तो दूसरी ओर महाकाव्यों की परम्परा में एक नयी श्रृंखला भी। कामायनी को जहाँ एक ओर अत्यधिक प्रशंसा व लोकप्रियता मिली, वहाँ दूसरी ओर उसे कठोर आलोचना, मिथकीय दिवास्वप्न 'दोष रहित दूषण सहित' आदि संबोधन भी। जहाँ पद्मनारायण आचार्य ने अपने कक्ष में कामायनी के छंद उत्कीर्ण किए और अपनी आत्मजा के पाणिग्रहण संस्कार में उसे जीवन का मांगलिक सूत्र कहकर उपहार में दिया, वहाँ दूसरी ओर रमाशंकर शुक्ल जैसे विद्वान दग्धाक्षर से प्रारम्भ होने के कारण पढ़ने से ही विरत रहे। यह निर्विवाद है कामायनी आधुनिक युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पर विवादास्पद ग्रंथ है।

कामायनी इतिहास, दर्शन और काव्य की पावन त्रिवेणी है। वस्तुतः कोई भी युगान्तरकारी रचना के ये ही त्रिकोण होते हैं। कामायनी एक ओर इतिहास है, दूसरी ओर काव्य और तीसरी ओर दर्शन। ऐसी रचनाएँ सचेतन कवि की जीवन कृति होती है। महाभारत के लिए कहा जाता है कि 'यन्न भारते तन्न भारते' जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में नहीं है। कामायनी के लिए भी हम यही कह सकते हैं कि जो कामायनी में है, वही प्रसाद में है, जो कामायनी में नहीं है, वह प्रसाद के व्यक्तित्व व कृतित्व में भी नहीं है। कामायनी प्रसाद के कृतित्व का चरमोत्कर्ष है। प्रारम्भ से लेकर प्रसाद की जो चिन्तन धारा रही है, वही कामायनी में लक्ष्य सिद्ध होकर पूर्णता को पहुँची है। प्रसाद इतिहास के व्याख्याता थे, वे दार्शनिक चिन्तक थे और थे अपनी अक्षय भाव-सम्पदा से कवि। प्रेम पथिक से लेकर कामायनी तक उनके काव्य का जो ऋणात्मक और धनात्मक विकास हुआ है—कामायनी में वह प्रभूत परिमाण में उपलब्ध है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन से उन्हें जो परम चैतन्य का विश्वात्मक और विश्वातीत तात्विक ज्ञान हुआ कामायनी उसका अकाट्य प्रमाण है। कामायनी एक ऐसी मंजूषा है जिसमें इतिहास दर्शन और काव्य के त्रिरत्न विद्यमान हैं।

कामायनी के पूर्व प्रसाद की कृतियों में हम कामायनी का पूर्व रूप स्पष्ट पाते हैं। प्रेम पथिक से आँसू और लहर तक प्रेम और सौन्दर्य की श्रेय और प्रेय की, जो

आदर्श चिन्तना उन्होंने प्रस्तुत की, कामायनी में वह पूर्णरूपेण विद्यमान है। कामना में जो जीवन दर्शन उन्होने प्रतिपादित किया 'एक घूंट' में जिस 'सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य' का आदर्श उन्होंने रखा, इन्द्रजाल की कहानी 'चित्र मंदिर' में नर और नारी के सम्बन्ध में बीच हिंसा व शिकार के विरुद्ध समता और करुणा का जो उद्‌घोष उन्होंने किया, वही कामायनी में पूर्णता को प्राप्त हुआ है। उनके नाटकीय पात्रों के विकास की चरमता हम कामायनी के मनु और श्रद्धा में पाते हैं। श्रद्धा उनके नारी पात्रों का, उनके कवि हृदय और दार्शनिक मानस का आदर्श मूर्तरूप है। कामायनी एक सोद्देश्य रचना है – संचेतन काव्य। जिस प्रकार श्रीरामचरितमानस की समाप्ति पर तुलसी 'परम विश्राम' के साथ 'स्वान्तस्तय शान्तये' का बोध करते हैं उसी प्रकार प्रसाद को कामायनी लिखकर 'संतोष' होता है। (श्री वाचस्पति पाठक को कथन) और अखण्ड आनन्द' की दिव्य अनुभूति। यही नहीं मिल्टन 'पैरेडाइज लास्ट' से प्रारम्भ कर पुनः उसे 'गेन्ड' करते हैं— दांते का डिवाइन कामेदिया रौरव नरक से ही स्वर्ग तक पहुँचता है, श्रीरामचरितमानस अधर्म की अराजकता और नैतिक मूल्यहीनता से प्रारम्भ होकर अन्त में राम राज्य का चित्रण करता है—उसी प्रकार कामायनी भी प्रलय की तमिस्ता व जड़ता और देव विध्वंस से प्रारम्भ होकर समरसता व समष्टि-चेतनता में पूर्णता का आलोक प्राप्त करता है। महान काव्यों की यही परम्परा है—यही पूर्ण चक्र (कम्पलीट सरकट) ऐसे काव्य युग की चुनौतियों को स्वीकार कर, विकल्प ग्रस्त जीवन को अवलंबन और आश्रय उसी प्रकार प्रदान करते हैं जैसे तूफानी समुद्र और झंझावातों के मध्य दृढ़ चट्टानें। वे एक परम्परा का सूत्रपात करते हैं। कामायनी में चित्रित जीवन सूत्र ग्रहण कर, सृष्टि प्रक्रिया को लेकर अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे गये : दिनकर का 'उर्वशी' प्रभात का 'मृतम्परा', राजेन्द्र किशोर का 'मनवन्तर' (लम्बी कविता) इसके कुछ प्रमाण हैं।

इसके पहले कि हम कामायनी के इतिहास—बोध दर्शन तत्व और काव्य के महत् स्वरूप (मैं जान-बूझकर महाकाव्य का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ)। पर विचार करें यह उचित होगा हम उन परिस्थितियों का भी संक्षिप्त पर्यालोचन करें, जो कामायनी की रचना की पृष्ठभूमि में विद्यमान थीं—या यों कहें कि जिन्होंने 'कामायनी' की रचना को अभिप्रेरित किया। टोफलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि फ्यूचर शाक' में लिखा है कि मानव समाज की गत आठ पीढ़ियों में जो परिवर्तन वैज्ञानिक संस्कृति के उद्‌भवोपरान्त हुआ है वैसा व्यापक और गंभीर परिवर्तन पहले कभी मानव इतिहास में नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध व बीसवीं शताब्दी का प्रथमार्ध इस दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त से मानवीय आनुवंशिकता को चुनौती देकर मनुष्य को पशु से ही विकसित गिनकर शारीरिक क्षमता, प्राकृतिक चयन, शक्ति मत्ता और अनुकूल रूपान्तरण को महत्व देकर हमारी सांस्कृतिक विरासत, मानवीय उदात्तता और

नैतिकता पर कठोर प्रहार किया। तदुपरान्त मार्क्स ने इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या कर, उसके विकास के नये सूत्र प्रस्तुत किये और धर्म, ईश्वर एवं अध्यात्म को खुली चुनौती देकर सामाजिक विकास की भौतिकवादी व्याख्या की। यह झकझोर देने वाला दूसरा झटका था। इसके पश्चात् फ्राइड ने अपने मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान से मनुष्य को काम-वसना का पुंज बनाकर, सुख-सिद्धान्त को ही जीवन का ध्येय स्वीकार किया। और तो और उसने माता-पुत्र, पिता-पुत्री के पवित्रतम संबंध में काम ग्रंथि को ही मूल गिना सारी कलात्मक रचना प्रक्रिया को भी उसने दिवास्वप्न की भांति हमारी इन्हीं ग्रंथियो की क्षतिपूर्ति गिना, यह तीसरा कुठाराघात था। इन सब नवीन उद्भावनाओ ने मनुष्य की धार्मिक आस्था, नैतिक मूल्यवत्ता, सामाजिक संबंधों की स्वस्थता, उदात्त मानसिकता, ऐतिहासिक परम्परा, सामाजिक विकास की मान्यताओं को हो जड़मूल से हिला दिया। नवीन बौद्धिकता का यह बोध मनुष्य के लिए एक प्रकार से असह्य हो गया। प्रेम, सौहार्द, सौमानस्य, उदारता, कर्त्तव्यशीलता, त्याग और समता का स्थान अधिकार, महत्वाकांक्षा, विकृत काम लिप्सा, द्वेष, स्पर्धा, हिंसा और परम्परा के प्रति विद्रोह ने ले लिया। प्रसाद ने भी इसका अनुभव किया भारतीय चिन्तना और सांस्कृतिक परम्परा के प्रति इस नवीन बौद्धिक वोध ने उन्हें 'उत्तेजित' किया—कामायनी की रचना की यही पृष्ठभूमि है—प्रसाद ने इन सबका उत्तर कामायनी में अपने रचनात्मक विश्वास से दिया है—कामायनी की रचना-प्रक्रिया को इसी संदर्भ में समझना अपेक्षित है। प्रसाद भारतीय जीवन मूल्यों के पूर्ण पक्षधर थे और यह नवीन वैज्ञानिक संस्कृति उसके अप्रत्यक्ष विरोध में थी। प्रसाद ने कामायनी में इसका उत्तर दिया।

कामायनी को छायावाद का उत्कर्ष; रहस्यवाद की आनन्द में मांगलिक परिणति व्यष्टि और समष्टि चेतना का तादात्म्य और मानवता वाद की काव्यमय उपलब्धि कहा जाता है। रामचन्द्र शुक्ल उसे प्रबन्ध काव्य ही नहीं मानते तो नंद दुलारे बाजपेयी उसे 'नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य' स्वीकार करते है, यह एक विचित्र स्थिति रही है कि जो कवि स्वच्छंदतावाद या प्रगति या मुक्तक से अपना काव्य-सृजन प्रारम्भ करता है उसकी अंततः सफल परिणति क्लासिकल प्रगति या महाकाव्य में होती है। हिन्दी में निराला, पंत, प्रसाद, राम कुमार वर्मा आदि इसके प्रमाण हैं। कामायनी अपने प्रगीत शिल्प में भी एक सफल क्लासिकल कृति है।

अब हम कामायनी के इतिहास तत्व को लें। इतिहास का आधुनिक अर्थ केवल अतीत की घटनाओं का आकलन नहीं है। अंग्रेजी के हिस्ट्री शब्द को ही लें। इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ (ग्रीक शब्द के अनुसार) 'ज्ञान का विवरण' है। रेमोंड विलिम्स ने 'हिस्ट्री' शब्द का विकास बताते हुए उसे मानवीय विकास की व्याख्या गिना है। इतिहास केवल अतीत का ब्यौरा नहीं है वरन् वह एक सतत् और अविच्छिन्न प्रक्रिया है : इस प्रक्रिया को समझना ही इतिहास का सही बोध है।

इस प्रक्रिया में इतिहास अतीत व वर्तमान से ही सम्बद्ध न होकर भविष्य की सम्भावना भी बन जाती है। जर्मन का गैस्टचिचेट इसे अधिक स्पष्ट करता है। हिगेल की विश्वक ऐतिहासिक प्रक्रिया इसी के समानान्तर है (द्रष्टव्य—की वर्ड्स) सोरोकिन, स्पैंगलर, टायनबी प्रभृति इतिहासकारों ने इतिहास का यही व्यापक अर्थ लिया है—वह मानवीय और सांस्कृतिक—सामाजिक विकास की व्याख्या है। मैथ्यू आरनोल्ड ने इतिहास को 'समाज का जीवंत चरित कहा है और बेकन ने दर्शन और काव्य की श्रेणी में परिगणित। अनेक इतिहासवेत्ताओं ने हैनरी पेरिन ने विक एवं काल के सतत् प्रवाह में मनोवैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध से इतिहास को मानवता और समाज के परिवर्तन की व्याख्या कहा है। ब्रिटेनिका इन्साक्लोपीडिया ने भी इतिहास का यही स्वरूप स्वीकार किया है। भारतीय मान्यता के अनुसार इतिहास पंचम वेद है।

श्रीधर स्वामी के अनुसार—

> धर्मार्थकाय मोक्षाणाप्रपदेश समन्वितम्
> पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते।

महाभारत में इतिहास को सोदावरण नष्ट करने वाला प्रदीप और लोक कर्म को संप्रकाशित करने वाला ग्रंथ गिना है। महाभारत को 'इतिहास पुराण' कहा जाता है एवं उसे अष्टादश इतिहास के अन्तर्गत गिना गया है। विलसन, पार्जिटर आदि विद्वानों ने पुराणों को प्रामाणिक ऐतिहासिक विवरण कहा है। चाणक्य ने—

> 'पुराण मिति वृत्त माख्यायिकोदाहरणं
> धर्म शास्त्र अर्थशास्त्रे त्वेतिहासः।'

आचार्य शंकर ने भी इतिहास को प्रमाण माना है। प्रसाद की भी इतिहास सम्बन्धी यही मान्यता है। उन्होंने इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम सम्राट गिना। कामायनी के आमुख में उन्होंने इतिहास की ही नहीं कामायनी के सम्बन्ध में भी अपनी धारणा स्पष्ट की है। वे वैवस्तमनु को ऐतिहासिक पुरुष गिनते हैं—'मानवता के नवयुग के प्रवर्तक।' और आगे 'आज के मनुष्य के समीप तो उसकी संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है'। उनके अनुसार श्रद्धा और मनु मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास है। प्रसाद जलप्लावन को भी भारतीय इतिहास की प्राचीन घटना गिनते थे (आज यह मत इतिहासकार भी स्वीकारते हैं)। मनु इसी अर्थ में भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। इस अभिमत के संदर्भ में प्रसाद 'इतिहास में रूपक का अद्भुत मिश्रण 'अंगीकार करते हैं पर मनु, श्रद्धा और इड़ा का 'ऐतिहासिक अस्तित्व' ही उनका मूल प्रयोजन है—इनका सांकेतिक अर्थ गौण। इतिहास की इन आधुनातन अवधारणाओं और प्रसाद की निजी मान्यताओं के संदर्भ में यह स्वतः स्पष्ट है कि कामायनी का मूल रचना प्रयोजन ऐतिहासिक है। कुछ विचारकों

ने उसे 'सांस्कृतिक इतिहास' या 'ऐतिहासिक संस्कृति' कहा है—पर, बात मूल रूप में वही है। कामायनी का यह इतिहास पक्ष हम इन पक्षों में देख सकते हैं :

1—वह मानवीय संस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक इतिहास है।

2—वह अतीत के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधृत वर्तमान युग की विसंगतियों का ऐतिहासिक निरूपण है—यह उसकी सम-सामयिकता है। इस प्रकार वह अनागत पर आगत की और आगत पर अनागत की प्रतिष्ठा करती है, अर्थात् वह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल संदर्भों का इतिहास-बोध है।

3—रागात्मक और बौद्धिक दोनों धरातलों पर वह मानवीय जीवन के संघर्ष का इतिहास है—व्यक्ति-समाज-शासन के पारस्परिक सम्बन्ध का।

4—वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का ऐतिहासिक विवेचन है।

संक्षेप में यही कामायनी का इतिहास पक्ष है। अब हम कामायिनी के दार्शनिक और काव्य-पक्ष को लें।

सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि दर्शन और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध अपरिहार्य है। वाइबल धर्म ग्रंथ है पर उसे 'फरर्ट बुक ऑव पोइट्री भी कहा जाता है। हज़रत मुहम्मद के हदीस जितने दार्शनिक हैं उतने ही काव्यमय। उपनिषद्, दर्शन ग्रंथ है पर उनका काव्योत्कर्षक निर्विवाद है। शंकर का आनन्द लहरी भी इसका अपवाद नहीं। श्रेष्ठ महाकाव्यात्मक ग्रंथ अपने स्वरूप विधान में दार्शनिक गंभीरता व प्रतिपत्तियाँ लिए हुए रहते हैं। चरमसीमा पर काव्य और दर्शन का समन्वय वस्तुतः राग व बुद्धि का ही समन्वय है—हृदय और मस्तिष्क का। कामायनी का भी यही रचना विज्ञान है। श्रीरामचरितमानस में भी काव्य और दर्शन का मणिकांचन संयोग है।

प्रसाद प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परम अनुयायी थे। उनके व्यक्ति और कवि दोनों के आरध्य शिव थे—नीलकंठ, जिनके चित्र पर अपने अन्तिम समय और क्षण में भी वे निर्निमेष दृष्टिपात करते रहे। कामायनी का आनन्दवाद, सामरस्य, भूमातत्व इसी के साक्ष्य हैं। यह विश्व चिति का विराट वपु मंडल है। वैषम्य के मध्य समत्व का बोध ही प्रत्यभिज्ञा है—पर। चैतन्य की उपलब्धि कामायनी में आद्योपांत त्रिक दर्शन के सिद्धान्त परिव्याप्त है और यही कारण है कि प्रसाद के पुत्र श्री रत्नशंकर तो उसे काश्मीरी शैव दर्शन का ही प्रामाणिक ग्रंथ स्वीकार करते हैं—जो प्रलय से प्रारम्भ होकर अपनी अन्तिम स्थिति में भी उसी का आकलन करता है। जहाँ उसका प्रारम्भ, जड़ता, विनाश, विस्मृति व अंधकार से प्रारम्भ होता है—

इस प्रक्रिया में इतिहास अतीत व वर्तमान से ही सम्बद्ध न होकर भविष्य की सम्भावना भी बन जाती है। जर्मन का गैस्टचिचेट इसे अधिक स्पष्ट करता है। हिगेल की विश्वक ऐतिहासिक प्रक्रिया इसी के समानान्तर है (द्रष्टव्य—की वर्डस) सोरोकिन, स्पैंगलर, टायनबी प्रभृति इतिहासकारों ने इतिहास का यही व्यापक अर्थ लिया है—वह मानवीय और सांस्कृतिक—सामाजिक विकास की व्याख्या है। मैथ्यू आरनोल्ड ने इतिहास को 'समाज का जीवंत चरित कहा है और बेकन ने दर्शन और काव्य की श्रेणी में परिगणित। अनेक इतिहासवेत्ताओं ने हैनरी पेरिन ने विक एवं काल के सतत् प्रवाह में मनोवैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध से इतिहास को मानवता और समाज के परिवर्तन की व्याख्या कहा है। ब्रिटेनिका इन्साक्लोपीडिया ने भी इतिहास का यही स्वरूप स्वीकार किया है। भारतीय मान्यता के अनुसार इतिहास पंचम वेद है।

श्रीधर स्वामी के अनुसार—

धमर्थिकाय मोक्षाणाप्रपदेश समन्वितम्
पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते।

महाभारत में इतिहास को सोदावरण नष्ट करने वाला प्रदीप और लोक कर्म को संप्रकाशित करने वाला ग्रंथ गिना है। महाभारत को 'इतिहास पुराण' कहा जाता है एवं उसे अष्टादश इतिहास के अन्तर्गत गिना गया है। विल्सन, पार्जिटर आदि विद्वानों ने पुराणों को प्रामाणिक ऐतिहासिक विवरण कहा है। चाणक्य ने—

'पुराण मिति वृत्त माख्यायिकोदाहरणं
धर्म शास्त्र अर्थशास्त्रे त्वेतिहासः।'

आचार्य शंकर ने भी इतिहास को प्रमाण माना है। प्रसाद की भी इतिहास सम्बन्धी यही मान्यता है। उन्होंने इन्द्र को आर्यावर्त का प्रथम सम्राट गिना। कामायनी के आमुख में उन्होंने इतिहास की ही नहीं कामायनी के सम्बन्ध में भी अपनी धारणा स्पष्ट की है। वे वेवस्तमनु को ऐतिहासिक पुरुष गिनते हैं—'मानवता के नवयुग के प्रवर्तक।' और आगे 'आज के मनुष्य के समीप तो उसकी संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है'। उनके अनुसार श्रद्धा और मनु मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास है। प्रसाद जलप्लावन को भी भारतीय इतिहास की प्राचीन घटना गिनते थे (आज यह मत इतिहासकार भी स्वीकारते हैं)। मनु इसी अर्थ में भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। इस अभिमत के संदर्भ में प्रसाद 'इतिहास में रूपक का अद्भुत मिश्रण 'अंगीकार करते हैं पर मनु, श्रद्धा और इड़ा का 'ऐतिहासिक अस्तित्व' ही उनका मूल प्रयोजन है—इनका सांकेतिक अर्थ गौण। इतिहास की इन आधुनातन अवधारणाओं और प्रसाद की निजी मान्यताओं के संदर्भ में यह स्वतः स्पष्ट है कि कामायनी का मूल रचना प्रयोजन ऐतिहासिक है। कुछ विचारकों

ने उसे 'सांस्कृतिक इतिहास' या 'ऐतिहासिक संस्कृति' कहा है—पर, बात मूल रूप में वही है। कामायनी का यह इतिहास पक्ष हम इन पक्षों में देख सकते हैं :

1—वह मानवीय संस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक इतिहास है।

2—वह अतीत के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधृत वर्तमान युग की विसंगतियों का ऐतिहासिक निरूपण है—यह उसकी सम-सामयिकता है। इस प्रकार वह अनागत पर आगत की ओर आगत पर अनागत की प्रतिष्ठा करती है, अर्थात् वह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल संदर्भों का इतिहास-वोध है।

3—रागात्मक और बौद्धिक दोनों धरातलों पर वह मानवीय जीवन के संघर्ष का इतिहास है—व्यक्ति-समाज-शासन के पारस्परिक सम्बन्ध का।

4—वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का ऐतिहासिक विवेचन है।

संक्षेप में यही कामायनी का इतिहास पक्ष है। अब हम कामायिनी के दार्शनिक और काव्य-पक्ष को लें।

सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि दर्शन और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध अपरिहार्य है। वाइबल धर्म ग्रंथ है पर उसे 'फर्स्ट बुक ऑव पोइट्री भी कहा जाता है। हज़रत मुहम्मद के हदीस जितने दार्शनिक हैं उतने ही काव्यमय। उपनिषद्, दर्शन ग्रंथ है पर उनका काव्योत्कर्षक निर्विवाद है। शंकर का आनन्द लहरी भी इसका अपवाद नहीं। श्रेष्ठ महाकाव्यात्मक ग्रंथ अपने स्वरूप विधान में दार्शनिक गंभीरता व प्रतिपत्तियाँ लिए हुए रहते हैं। चरमसीमा पर काव्य और दर्शन का समन्वय वस्तुतः राग व बुद्धि का ही समन्वय है—हृदय और मस्तिष्क का। कामायनी का भी यही रचना विज्ञान है। श्रीरामचरितमानस में भी काव्य और दर्शन का मणिकांचन संयोग है।

प्रसाद प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परम अनुयायी थे। उनके व्यक्ति और कवि दोनों के आरध्य शिव थे—नीलकंठ, जिनके चित्र पर अपने अन्तिम समय और क्षण में भी वे निर्निमेष दृष्टिपात करते रहे। कामायनी का आनन्दवाद, सामरस्य, भूमातत्व इसी के साक्ष्य हैं। यह विश्व चिति का विराट वपु मंडल है। वैषम्य के मध्य समत्व का बोध ही प्रत्यभिज्ञा है—पर। चैतन्य की उपलब्धि कामायनी में आद्योपांत त्रिक दर्शन के सिद्धान्त परिव्याप्त है और यही कारण है कि प्रसाद के पुत्र श्री रत्नशंकर तो उसे काश्मीरी शैव दर्शन का ही प्रामाणिक ग्रंथ स्वीकार करते हैं—जो प्रलय से प्रारम्भ होकर अपनी अन्तिम स्थिति में भी उसी का आकलन करता है। जहाँ उसका प्रारम्भ, जड़ता, विनाश, विस्मृति व अंधकार से प्रारम्भ होता है—

'एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन' से वहाँ उसका अन्त परम चैतन्य अमर जीवन, प्रत्यभिज्ञा, आलोक और आनन्द में है—जहाँ सब आँखें प्रेम ज्योति की विमला 'से प्रतिफलित है—और जड़ या चेतन नहीं वरन् अखण्ड आनन्द के साथ' चेतनता एक विलसती है'—यही आत्मोपलब्धि है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इन सूत्रों को संक्षेप में ग्रहण कर हम कामायनी के अन्य दार्शनिक संदर्भों पर भी विचार करें।

कामायनी नैतिक मूल्यों का विवेचन करती है। एक संक्षिप्त निबन्ध में कामायिनी के नीति सिद्धान्तों की व्याख्या सम्भव नहीं। आज नीति दर्शन की मुख्य समस्याएँ हैं :—

1—साधन और साध्य का सम्बन्ध व औचित्य।

2—अधिकार और कर्तव्य का संतुलन।

3—व्यक्ति और समाज का स्वस्थ्य सम्वन्ध।

4—नैतिक आचरण के आधारभूत तत्व।

5—नैतिक मूल्य।

6—उचित और अनुचित औचित्य का ज्ञान।

नीति दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त आत्मोपलब्धि (यूडियोमोनिज्म) है, जहाँ मनुष्य राग तत्व और बुद्धि तत्व के पूर्ण सामंजस्य में होकर मानवीय विकास की उच्च भूमि प्राप्त करता है। कामायनी में प्रसाद ने उपयुक्त सभी पक्षों का विवेचन किया है। एक दृष्टि से हम कामायनी को नैतिक मूल्य बोध का ग्रंथ कह सकते हैं। आज मनुष्य का नैतिक अवरोह और पतन अधिकार लिप्सा के कारण हो रहा है—वह अधिकार चाहता है—कर्तव्य नहीं। सुखवाद (हिडोजिन्म और परार्थवाद (एलट्रूइज्म) में आज व्यक्ति अपनी विकृत अहं चेतना के कारण, 'सुख केवल बस सुख का संग्रह चाहता है'—आधुनिक विद्वानों ने इसे ही 'सर्वग्राही व्यक्ति सुखेच्छा' कहा है। इसी के कारण व्यक्ति और समाज का सम्वन्ध भी जर्जर और खण्डित हो गया है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच स्पर्धा और वैयक्तिक महत्वाकांक्षा जन्य स्पर्धा ही मुख्य है। कामायनी का मनु इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह साध्य को ही मुख्य मानता है, साधन को नहीं। ऐन्द्रिय सुख ही उसके जीवन का प्रयोजन है—वह सर्वत्र अधिकार लिप्सा से ग्रस्त है। उसके औचित्य और अनौचित्य का विवेक नष्ट हो गया है। श्रद्धा को वह त्यागता है इसी अपने विकृत अहं के कारण। इड़ा उसे चुनौती देती हुई कहती है—

आह ! प्रजापति यह न हुआ है
कभी न होगा,
निर्वन्धित अधिकार आज तक
किसने भोगा।

मनु जीवन की यह विडम्बना है कि वह नियामक को नियमों से परे समझता है। उसकी गर्वोक्ति है—

मैं शासक, मैं चिर स्वतन्त्र तुम पर भी मेरा
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

यही एकाधिकार वह श्रद्धा पर भी चाहता था। वह 'सहज लब्ध सुख' को छोड़ नहीं सकता। उसकी विकृत अहं भावना है—

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व
इस पंच भूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।

प्रसाद ने कामायनी में मानवीय मूल्यों के प्रश्न-उचित-अनुचित, संगत-असंगत सदाचार-दुराचार के सन्दर्भ में उठाये हैं। डॉ. बार्नेस के अनुसार नैतिक आचरण की मूलभूत इकाइयाँ हैं—

(1) अन्य व्यक्तियों के प्रति व्यवहार।
(2) अन्य संस्थाओं और वृहत् समाज के प्रति हमारी कार्य-प्रणाली।
(3) स्वभाव या वैयक्तिक आचार का विकास : व्यक्ति की आचार-संहिता।

मनु का चारित्रिक विश्लेषण इन्हें और स्पष्ट कर देगा। दैव-सभ्यता के पतन के जो कारण थे, वे ही कारण मनु के चारित्रिक पतन के भी हुए और इतिहास ने पुनः अपने को दोहराया। मनु का चरित्र विकृत अहं का उदाहरण है और यही कारण है कि वह न तो श्रद्धा-राग तत्व के साथ निभ सका और न इड़ा अर्थात् बुद्धि तत्व के साथ। उसे आत्म-ज्ञान तभी होता है जब वह अन्त में प्रकृत और शुद्ध अहम् का बोध कर पूर्ण आत्म चैतन्य को प्राप्त होता है। ऐन्द्रिय सुख से परे वह मानसिक सन्तोष और आत्मिक आनन्द की मधुमती भूमिका पर पहुँचता है, जिसे हम नीतिशास्त्र के शब्दावली में 'जीवन का पूर्णतम और सुव्यवस्थित और सद्भाव-पूर्ण विश्वबन्धुत्व का विकास है।' मनु सब भेदभाव भूल कर कहता है—

सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है।
अपना ही अणु-अणु कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है॥

कामायनी का एक और पक्ष उसका मनोदर्शन है—मनोविज्ञान। कामायनी मानवीय मनोवृत्तियों का आख्यान है। चिन्ता से लेकर आनन्द तक—विभिन्न स्थितियों और सन्दर्भों में प्रसाद ने इन मानवीय मनोवृत्तियों का निरूपण किया है। चिन्ता हो चाहे आशा, श्रद्धा हो या काम, वासना हो या कर्म, लज्जा हो या ईर्ष्या—सभी मनोवृत्तियाँ मनोविज्ञान से सम्बद्ध हैं। और इन सबकी विशद व्याख्या अपेक्षित

है। केवल लज्जा सर्ग को ही लें तो हमें उसके मनोवैज्ञानिक निरूपण पर आश्चर्य होगा। सभी सर्ग अपने अर्थ विधान में महत्वपूर्ण हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रसाद ने कामायनी को मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास कहा है। कामायनी अर्थात् काम की पुत्री संकल्पजा। मैंने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट करने की चेष्टा की थी कि कामायनी की रचना-भूमि में फ्राइड के काम-सिद्धान्त भी रहा है। प्रसाद ने प्रारम्भ से ही प्रेम और वासना का, सौन्दर्य और रूप का भेद स्वीकार कर प्रेम और सौन्दर्य को जीवन का प्रयोजन स्वीकार किया है। प्रेम और सौन्दर्य जीवन की विराट मानसिक भूमिका में परिपक्व होकर प्रकृति के चिरन्तन और मांगलिक स्वरूप के साथ समन्वित होकर जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। भारतीय मनोविज्ञान ने इसे ही प्रकृत या धर्मविरुद्ध काम कहा है, जो सृष्टि के विकास का मूल आधार है—जिजीविषा का स्रोत सहज आकर्षण का उद्भव। इसके विपरीत फ्राइड की काम ग्रंथि, जिसे विकृत या धर्म विरुद्ध काम कह सकते हैं, वह वासना है, विकर्षण और केवल रूपसक्ति। श्रद्धा प्रकृत काम को स्वीकार करती है और मनु विकृत काम को। यही उसके पतन का कारण है : वासना का कालुष्य उसे सदैव घेरे रहता है उसी प्रकार जैसे देव सभ्यता में—

"भरी वासना सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह।
प्रलय जलधि में संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह।"

जिस प्रकार विकल वासना के वे प्रतिनिधि 'जल में गले गए,' उसी प्रकार मनु भी वासना की अग्नि में जला। उसने श्रद्धा की 'देहमात्र' पायी और 'सौन्दर्य जलधि से केवल गरल मात्र' ही भर सका। यही कारण है कि काम ने उसे अभिशप्त किया क्योंकि अपने पुरुषत्व के मोह में वह 'नारी की सत्ता' को भूल गया। कामायनी का काम तत्व : आधुनिक मनोदर्शन (या मनोविज्ञान) का ज्वलंत उदाहरण है—आधुनिक मनुष्य की मानसिक दुरवस्था का। मनु की 'भ्रांति' आज के मनुष्य की ही भ्रांति है।

मनु के चरित्र का एक और मनोवैज्ञानिक पक्ष उसका मनोविदल और खण्डित व्यक्तित्व है। खण्डित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति अपने मानसिक प्रभावों को अधिक देखता है बनिस्पत बाह्य घटनाओं और प्रभावों के। इसी पर उसका संवेगात्मक (इमोशनल) विन्यास निर्भर करता है। प्रो. एरिक वर्न के अनुसार खण्डित व्यक्तित्व अपने मानसिक बिम्ब विधान पर ही निर्भर रहता है न कि जीवन की वास्तविकता पर। वह अपने भावों को मन:स्थित के साथ ही खण्ड-खण्ड में देखकर घटनाओं का सही संदर्भ नहीं देखता। इसी से उसका पूर्ण व्यक्तित्व आत्म-

परक हो जाता है—और वह अपने ही भावों, विचारों, उद्वेगों के साथ जीवन की आंकाक्षाओं और इच्छाओं को महत्व देता है। उसका जीवन दोहरा हो जाता है—एक आत्मगत—वैयक्तिक धरातल पर और दूसरा लोकपरक—दोनों में कही सामंजस्य नहीं रहता। इसी से उसमें प्रकृतागतत्व के स्थान पर—प्रभुत्व रहता है, जिसके फलस्वरूप उसमें आक्रामक वृत्ति अधिक तीव्र हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों का आचरण न तो विवेक संगत होता है और न "बुद्धिमत्तापूर्ण"—प्रेम और द्वेष—स्पर्धा और आत्मरति के बीच संशय और विकल्पग्रस्त रहकर वह समाज से कट जाता है। मानसिक ग्रन्थियों और असंतुलन के कारण ऐसा व्यक्ति अपना रागात्मक सम्बन्ध खोकर केवल दिवा स्वप्नों या भ्रांतियों में ही जीवनयापन करता है। इसी को मनोविज्ञान में मनोविदल व्यक्ति (   ) हो जाता है, जिससे उसमें मानसिक समायोजन का नितान्त अभाव रहता है। प्रत्येक विपरीत स्थिति उसे निराशा या अवसाद या विमोह से भर देती है—वह आत्मविश्वास खोकर जीता है और डॉ. हेरिंगटन के शब्दों में अत्यधिक सहजात होकर दमित इच्छाओं के कारण अनियमित और अव्यवस्थित बन जाता है। फ्राइड ने इसे ही आत्मासक्ति कहा है। उसका आत्म विश्लेषण व्यतिक्रम के कारण त्रुटिपूर्ण और असंगत रहता है और अपनी ही कठिनाइयों में जीता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में किसी भी नए व्यक्ति का आगमन उसे अमित संभावनाओं में भरकर नवीन उत्तेजनाओं से भर देता है। वह एक ओर स्वगृहीत होता है और दूसरी ओर विनम्र। ऐसा व्यक्ति प्रतिनायक की भांति पाठक के क्रोध और घृणा का पात्र न होकर अपनी दुर्बलताओं के कारण दया और सहानुभूति का पात्र बन जाता है। वह सोचता है कि उसके जीवन की प्रत्येक स्थिति उसके प्रतिकूल है—वह सबके लिए पराया है। उसके जीवन के अनुभव इसे और भी विक्षुब्ध कर देते हैं। उसकी प्रेषणीयता सामान्य नहीं रहती और वह अपने को सामाजिक अलगाव की स्थिति में पाता है (ब्राउन और बिरवे) यह संक्षिप्त विवेचन यह प्रमाणित कर देगा कि उपर्युक्त लक्षण मनु के चरित्र पर सटीक लागू होते है। वह इन्हीं विसंगतियों का चरित्र है। मनोविज्ञान में इसे अहम का विक्षोभ कहा गया है, जिसमें मनु अपने को पर्यावरण से न तो जोड़ पाता है ओर न तोड़ ही—उसके वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं और वह संकल्प निर्धारित करने में अक्षम होता है।

कामायनी की मनोदार्शनिक भूमिका भी अत्यन्त पुष्ट और प्रौढ़ है। वस्तु-विधान से लेकर चरित्र विन्यास तक—मनोवृत्तियों के निरूपण में वह मनुष्य के मनोजगत का प्रभावी चित्रण करती है—मनु के मन, श्रद्धा को राग तत्व और इड़ा को बुद्धि तत्व के प्रतीक रूप में स्वीकार करने से भी कामायनी की मनोदार्शनिक गम्भीरता ध्यातव्य है।

अब कामायनी के काव्य पक्ष को लें। मैं इस वृथा विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि परम्परागत लक्षणों के अभाव में कामायनी महाकाव्य है या नहीं, या कामायनी का मूल्यांकन कृतिकी के माध्यम से करने पर वह एक असफल कृति कही कही जा सकती है। (इन्दनाथ मदान) आन्तरिक योजना के अभाव में और चारित्रिक असंगतियों के कारण उसमें समन्वय (या लोकमंगल) का अभाव है। (रामचन्द्र शुक्ल) कुछ विद्वानों ने उसके वस्तु सौष्ठव का दोष मूल कथा और उपसंहार की सम्बन्ध-हीनता गिना है (नगेन्द्र) उसके रचना विधान को फंवासी कहा जाता है, जिस पर समरसता बरवस लादी गयी है और इसी से वह चरित्र भाव्य नहीं हो पायी। इस प्रकार कामायनी के काव्य पक्ष पर अनेक दृष्टियों से आघात हुआ है। उसे मिथक से स्वल्प में छलांग भी कहा गया है। और इतिहास का मजाक उड़ाने वाला ग्रन्थ (रमेश कुतल मेघ) इन ऊहापोहो में न पकड़कर मैं कामायनी के वस्तु विधान के कुछ सूत्रों का ही संक्षेप में विवेचन करना चाहूँगा। कामायनी के वस्तु प्रवाह के दो धरातल हैं—वाह्य अर्थात् घटनापरक और आभ्यंतरिक अर्थात् मनः स्थिति-परक। हमें सम्पूर्ण कथानक को दो खण्डों में देखना पड़ेगा—पहला खण्ड है चिन्ता से संघर्ष पर्यन्त। दूसरा खण्ड है दर्शन से आनन्द तक। पहला खण्ड विभिन्न स्थितियों और समस्याओं का चित्रण करता है और दूसरा उनका समाधान प्रस्तुत करता है चाहे वह समाधान हमें मान्य हो या नहीं—यह अलग प्रश्न है। पहले खण्ड को भी हमें दो धरातलों पर देखना होगा—

(1) चिन्ता से ईर्ष्या तक

(2) इड़ा से संघर्ष पर्यन्त।

यहीं कामायनी के वस्तु-रहस्य का पता चलता है। प्रलयोपरान्त चिन्ता सर्ग के प्रारम्भ में जो हताश, विरक्त, अवसन्न मृत्यु अभिलाषी मनु है—वहीं इड़ा सर्ग के प्रारम्भ में भी और वही संघर्ष सर्ग के अन्त में। श्रद्धा और इड़ा का सानिध्य उसे जीवन की अपेक्षित और वांछनीय दिशा क्यों नहीं दे पाया ? उसके जीवन में क्यों वही रिक्तता आद्योपांत रही ? हमें कामायनी आभ्यंतर कथा प्रवाह में इसका कारण खोजना होगा। इस मत की पुष्टि के लिए आप चिन्ता और इड़ा सर्ग के प्रारम्भ की तुलना करें। श्रद्धा के आगमन पर उसके हर्ष और उल्लास की तुलना इड़ा के आगमन से करें—आपको यह स्पष्ट हो जायगा। इसी प्रकार ईर्ष्या सर्ग के अन्त के मनु की तुलना (कुछ अन्तर के साथ) संघर्ष सर्ग के अन्त के 'मनु से करें—चिन्ता, इड़ा और संघर्ष तीनों का मनु अपनी मानसिक स्थिति में समान—दिखाई देगा। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और संदर्भो के मध्य में भी उसकी हताशा—दिखाई पड़ेगी। जिस प्रकार श्रीरामचरितमानस का अन्तिम सोपान उत्तर काण्ड एक दार्शनिक समाहार है उसी प्रकार कामायनी के अन्तिम चार सर्ग तो केवल उन्हीं

समस्याओं का समाधान हैं, जो पहले उठाई गई हैं। इस प्रकार हम कामायनी के प्रारम्भ और उपसंहार में एक तारतम्य और सातत्य स्पष्ट देख सकेंगे।

कामायनी एक त्रासद काव्य है। कामायनी का त्रासद तत्व उसे जीवन से आधुनिक जीवन से जोड़ता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में ऐसी त्रासदी अन्यत्र नहीं मिलेगी। यह त्रासद तत्व हमें इस प्रकार प्राप्त होता है—

(1) श्रद्धा के माध्यम से नारी जीवन की उपेक्षित, तिरस्कृत और सुखद स्थिति में—जो उस युग की एक उपलब्धि रही है—राधा, सीता, उर्मिला, अहिल्या, विष्णुप्रिया, द्रौपदी यशोधरा आदि अनेक चरित्रों के माध्यम से कवियों ने इसे उजागर किया हैं।

(2) अरस्तू के प्रसिद्ध सिद्धान्त के आधार पर जिसमें विपर्यास और पुर्नज्ञान मुख्य है। त्रासदी का मुख्य कारण प्रमुख पात्र में अन्तर्दृष्टि का अभाव होता है—इसी से वह प्रलोभन का शिकार बन जाता है। इसी से वह नीति च्युत होकर अपने अहंकार में दुर्भाग्य का वरण, तत्पश्चात् अभिज्ञान से उसका पुनरुत्थान। त्रासदी की रचना में इतिहास और दर्शन का समन्वय विद्यमान रहता है त्रासदी का लक्ष्य अरस्तू का प्रसिद्ध विवेचन सिद्धान्त है, जिसमें भय और करुणा का विवेचन होता है।

अरस्तू के पश्चात् पाश्चात्य काव्यशास्त्र में त्रासदी की अनेक व्याख्याएँ की गईं। उन सबका उल्लेख न करके मैं हिगेल के "त्रासद संघर्ष' भिन्तुर्वो की मनोवैज्ञानिक स्थिति और कोयस्लर के मानवतावादी रूप का ही उल्लेख पर्याप्त और परिवेश के असंतुलन को आभ्यंतरिक संघर्ष कहा है। भिन्तुर्वो ने त्रासदी के संघर्ष का कारण जीवन के मूल्यों से गिना है और यह संघर्ष मानसिक असंतुलन का ही परिणाम है। जब पात्र जीवन मूल्यों को अपने अविवेक के कारण समझ नहीं पाता। कोयस्लर ने त्रासदी की भावनाओं का समष्टिगत संयोजन करने का माध्यम गिना है। जो हमें सामूहिकता की प्रेरणा देती है। यही त्रासदी का बौद्धिक प्रकर्ष है। प्रसिद्ध स्पेनिश लेखक अन्तोनियो व्युरो के अनुसार मानव त्रासदी के मुख्य कारण हैं—पूर्णता और अपूर्णता में द्वन्द्व, दुष्कर्मों का अपरिहार्य परिणाम, त्रुटियों की पुनः पुनः आवृति और आशा एवं निराशा का चक्र। दूसरे चिन्तक अल्फजो सार्त्रे के अनुसार त्रासदी मनुष्य के दुःखद अस्तित्व का उद्घाटन है। त्रासदी की यह संक्षिप्त रूपरेखा कामायनी के त्रासद तत्व को स्पष्ट कर देती है। मनु के जीवन में विपर्याव होता है और संघर्ष के अन्त में मूर्छित होकर वह अपने से कहता है—

भाग अरे, मनु इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है।

यहीं उसके पराजय और आत्म-ग्लानि की चरमसीमा है। उसके समक्ष उसका सारा अतीत खुल जाता है—कुहासा मिट जाता है। वह श्रद्धा से क्षमा नहीं माँगता, उसे भगवती, देवि, सर्व मंगला, 'मातृमूर्ति' कहता है—यहीं से उसे अभिज्ञान होता है, उसकी अज्ञानता और भ्रान्ति नष्ट हो जाती निवन्ध में ही सम्भव है। कामायनी के त्रासद तत्व का निरूपण एक स्वतन्त्र वर्गसा के 'इलान वाइटल' की भाँति काव्य का भी 'पोइटिक इलान'। पात्रों की आन्तरिक दुनिया, विविध, जटिल व समृद्धि संरचना ही 'पोइटिक इलान' है। काम के द्वारा मनु से 'योग्य बनो' के अर्थ का महांत अर्थ और अन्त में उसका अभिशाप कामायनी के त्रासद तत्व को और स्पष्ट कर देता है।

प्रसाद ने 'आमुख' में कामयनी के सांकेतिक अर्थ की ओर संकेत किया है। उनका कथन स्पष्ट है कि मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना सांकेतिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। प्रसाद का यह आदेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतिहास के साथ ही उसे रूपक समझा जा सकता है। या यों कहें कि प्रस्तुत कथानक को अव्याहृत और अव्याकृत करने का प्रसाद ने हमें कोई अधिकार नहीं दिया। रूपक में जो अभेद मूलक व्याप्ति रहती है—वह क्या इस स्थिति में सभव है ? प्रसाद के अनुसार यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है—"प्रसाद इतिहास में रूपक का मिश्रण मानते हैं पर कामायनी के लिए, 'रूपक' का प्रयोग न करके सांकेतिक अर्थ का प्रयोग किया है।"

कामायनी अन्योक्तिपरक काव्य है या समासोक्तिपरक। उसके कथानक में रूपक का अभेद मूलक आरोप किया जा सकता है या नहीं—या केवल अर्थ की सांकेतिकता ही मान्य होनी चाहिए—ये सब जटिल प्रश्न हैं। इन पर गम्भीरता और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। भारतीय साहित्य में रूपक की परिभाषा और व्याख्या स्पष्ट है। अंग्रेजी में एलीगरी की प्रचुर विवेचना की गई है। साहित्यिक स्तरीय कथा के समानान्तर जब अन्य प्रतीकात्मक कथाएँ भी चलती हैं। आधुनिक आलोचना शास्त्र में रूपक, प्रतीक और प्रत्यय के साम्य और अन्तर का तात्विक विवेचन किया गया है। सामान्य से विशेष और पुनः दोनों का तादात्म्य रूपक की अनुपेक्षणीय विशेषता है। मेरा मत है कि कामायनी का 'सांकेतिक अर्थ' ही हमारे लिए पर्याप्त है और उसके सहारे ही हम कामायनी कथानक चरित्र व प्रयोजन को पूर्णतः समझ सकते हैं।

कामायनी के काव्य पक्ष पर अनेक दृष्टियों से विचार अभीष्ट है। क्या वह एक फंतासी है—क्या उसका मिथकीय रूप ही मुख्य है ? उसे छायावाद का

उपनिषद कहने की संगति क्या है। उसमें किस सीमा तक, रहस्यवाद (शैवागम दर्शन के आधार पर) विश्वात्मकवाद की अवतारणा हुई है? उसके मानवतावाद का स्वरूप क्या है? इन प्रश्नों का सविस्तर उत्तर यहाँ सम्भव नहीं। मैं केवल कुछेक अन्य संकेत ही देकर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। कामायनी को कुछ आलोचकों ने प्रकृतिमूलक महाकाव्य कहा है। महाकाव्य की समस्त गरिमा समेट कर अपनी महनीयता में कामायनी काव्योत्कर्ष की चरम सीमा छूती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति प्रसाद भी प्रकृति को सौन्दर्य की अनन्त श्री समझते थे। प्रकृति ही विश्व चेतना का मूर्त आकार है—वही विश्वात्मा है। प्रसाद की प्रकृति केवल उद्दीपन या आलम्बन नहीं है—न केवल उसका तथा कथित मानवीकरण करके ही सन्तोष किया है। प्रकृति की विराट भाव भूमि उन्हें अतीन्द्रिय लोक में ले जाता है—उन्होंने उसका उदात्तीकरण किया है। उन्होंने मनुष्य को प्रकृति की आँख से देखा है उसके अप्रतिहत और अनिन्द्य सौन्दर्य की शाश्वत चेतना से वे सदैव अभिभूत रहे—यह विश्व 'चिति का विराट वपु मंडल' है—वह सतत है, सुन्दर है, चिर सत्य है। श्रेय प्रेयमयी इसी विचारधारा ने शिवत्व और सौन्दर्य का समन्वय कर प्रसाद ने सत्य शाश्वत सत्य ऋत की व्याख्या की है और काव्य इसी कारण कवि की सांकल्पिक अनुभूति बनकर आत्मिक आनन्द 'स्वरूप विश्रांति' बन जाता—आत्म बोध। प्रसाद ने प्रकृति और काव्य को पूरक और अभिन्न गिना है। कामायनी का प्रकृति वर्णन आधुनिक हिन्दी काव्य की अप्रतिम विशेषता है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रसाद ने उसके बाह्य और आन्तरिक अलौकिक स्वरूप का विविध रूपेण उद्घाटन किया है।

कामायनी की भाषा शैली भी उसी तरह विचारणीय है। काव्य मूलत: शब्दों का सार्थक विधान है। कामायनी का शब्द विधान हिन्दी काव्य की एक उपलब्धि है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। श्रद्धा सर्ग में अनेक बार 'निरूपाय' शब्द का प्रयोग मनु और श्रद्धा ने किया है। अन्त में उसे 'सौपाय' बना दिया। 'निरुपाय' का अर्न्तनिहित वैज्ञानिक अर्थ गतिहीन निश्चल शक्ति से है (स्टेटिक एनर्जी) और यही अन्त में, श्रद्धा और मनु के मिलन पर गतिमय, चल और प्रभाव-मूलक बन जाती है। कामायनी में शिव के रुद्र, नटराज, भूतनाथ आदि प्रयोग भी विशिष्ट अर्थ रखते हैं। इसी प्रकार प्रलय भी प्रसाद में एक विशेष अर्थ रखता है।

कामायनी मनुष्य के पुरुषार्थ का काव्य है। उसे अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष की यात्रा कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से वह आदि मनुष्य से लेकर आज तक के मनुष्य की उसके जय-पराजय की—संगति-विसंगति की सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक गाथा है। उसका दर्शन तत्व व्यापक, गम्भीर और

अत्यन्त प्रौढ़ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उसकी रचना का मुख्य आधार है। नीति दर्शन और मनोदर्शन उसके आवश्यक अंग है। समाज शास्त्रीय दृष्टि से उसका मिथकीय विन्यास, प्रतीकार्थ और प्रत्यय विवेचन अपना महत्व रखते हैं। प्रसाद ने यज्ञ, वैराग्य और जीवन के पलायन का खुलकर विरोध किया है। आत्म संकुचित व्यक्ति न तो जिजीविषा रख सकेगा और न आत्म विस्तार ही कर सकेगा। वह स्वयम् के लिए असह्य बोझ बन जाएगा। इसी प्रकार अतीत जिजीविषा रख सकेगा और न आत्म विचार ही कर सकेगा। वह स्वयं के लिए असह्य बोझ बन जाएगा। इसी प्रकार अतीत जीवी बनकर भी वह केवल व्यामोह में जकड़ा रहेगा, वर्तमान और भविष्य से हम टूट जाएँगे। यही श्रद्धा मनु से कथन है आधुनिक हिन्दी काव्य की वह दुर्लभ मंजूषा है—आज के युग की विभीषिकाओं को वह अभिव्यक्त करती है। काम का अभिशाप हमारे वर्तमान युग, समाज और जीवन के सारे खोखलेपन को स्पष्ट करता है—वैज्ञानिक संस्कृति के मध्योत्कर्ष काल में लिखा जाकर भी उसने इस जड़ संस्कृति के हेय पक्षों का, वर्ग संघर्ष का, सामाजिक अन्याय का, हिंसक प्रवृत्तियों का, 'स्वातंत्र्यमयी उच्छृङ्खलता का' 'शाप भरा प्रजातन्त्र का, अनन्त कलह कोलाहल का—'बोझिल बौद्धिकता का अभिशाप है—जिसे मनु ने भोगा और आज हम मनु की संतान भी उसी प्रकार भोग रहे हैं और संभवतः आगे भी भोगेंगे आकुलि और किलातों का कहाँ अन्त है। अधिकार और विलास व अहंकार संग्रह, वासना, हिंसा, जिनसे देव सृष्टि विनष्ट हुई, मनु ने उन्हें ही पुनः दोहराया आज भी मनु की संतान उन्हें ही दोहरा रही है। कामायनी शीर्षक ही इस सत्य का द्योतन करता है कि कामायनी में काम तत्व ही प्रमुख है—उसके प्रकृत और विकृत उसके श्रेय और हेय, संकल्प और विकल्प का शुद्ध आत्मिक प्रेम और वासना, सौन्दर्य और रूप के आधार पर वर्णन हुआ है। इसे ही आगे चलकर अनेक कवियों ने 'कामाध्यात्म' की संज्ञा दी। जिसे रोमन साहित्य में एगेप'—सर्वात्म, सर्वव्यापी शुद्ध प्रेम कहते हैं—मानवीय अस्मिता की चरम उपलब्धि वही कामायनी में प्रसाद ने काम तत्व के माध्यम से विवेचित किया है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना पहले था और आगे भी उसी प्रकार रहेगा। परन्तु इन सारी चुनौतियों के मध्य कामायनी आशा और मंगल की सूचना देता हुई मनुष्य की अजेय शक्ति में विश्वास रखती है और जानती है कि—

जलधि के फूटें कितने उत्स
दीप कच्छप डूबें उतराय।
किन्तु यह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विधाता की इस कल्याणी सृष्टि के मंगलमय विधान की यह आस्था मानवीय

चैतन्य की गत्यात्मक संकल्पशक्ति में अडिग विश्वास है और यही है वह महान विजन, वह महत भाव, व जिसे प्रसाद ने देखा था। कामायनी की यही देश कालातीत स्थिति है। प्रसाद ने स्वयम् कहा है :—

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

———

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 95187
Date 18/3/2000
SIMLA

Library IIAS, Shimla
H 811.009 L 821 A
00095181